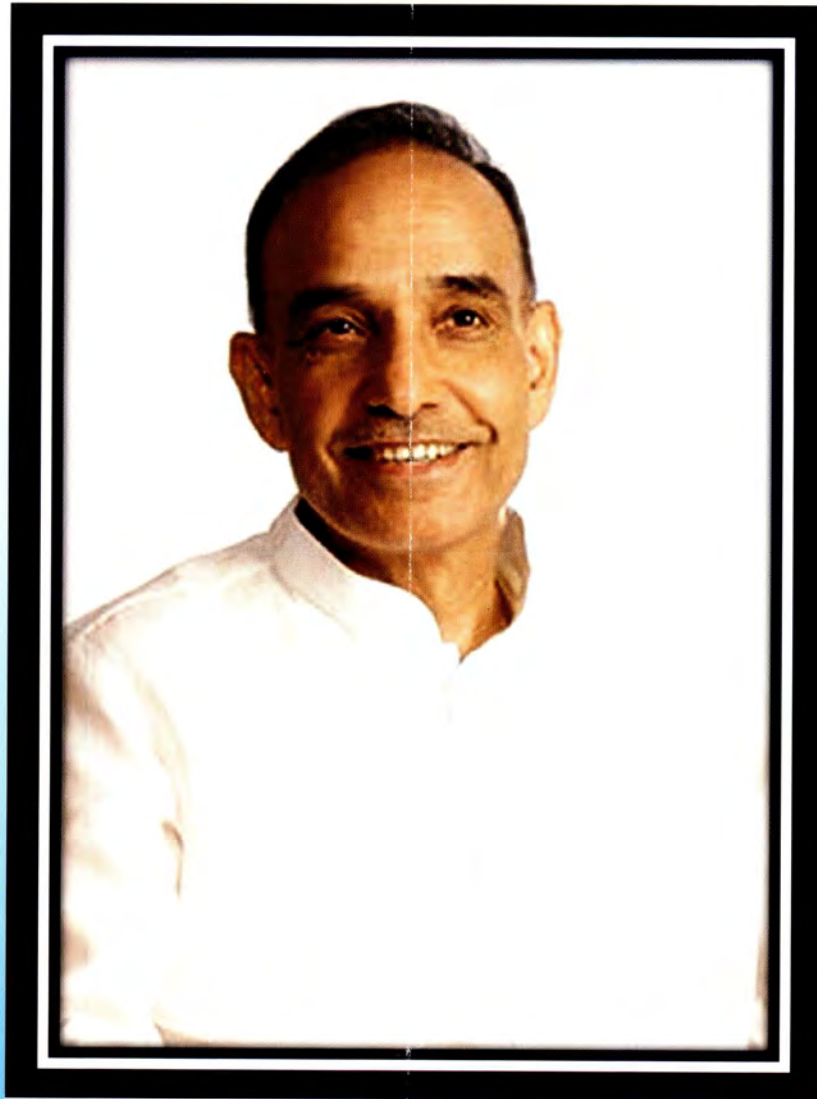




स्थापना वर्ष: १९४२

नूतन निष्काम पत्रिका

नूतन निष्काम पत्रिका * वर्ष-8 * अंक-10 * मुम्बई * अक्तूबर 2017 * मूल्य-रु.9/-



आदरणीय श्री डॉ. सत्यपाल सिंह जी

को भारत सरकार में मानसंसाधन विकास और जल संसाधन, नदी विकास एवं
गंगा-संरक्षण राज्य मंत्री बनाये जाने पर आर्य समाज सान्ताक्रुज़ के
अंतरंग सभा एवं समस्त सदस्यों द्वारा

हार्दिक अभिनन्दन

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य

पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय

प्रश्न- कर्त्तव्य क्या है अकर्त्तव्य क्या है?

उत्तर- एक उदाहरण पर सोचिये। राजभक्ति क्या है और राजद्रोह क्या है? राज्य का शासन जिन मूल तत्त्वों के आधीन है उनका सहयोग करना राजभक्ति और उनके विपरीत आचरण करना राजद्रोह है। राज्य कर्मचारियों को अनुचित रिश्वत देना राजद्रोह है क्योंकि यह उन मूल तत्त्वों के विपरीत है जिन पर शासन आधारित है। राजा की खुशामद करना राजद्रोह है। क्योंकि शासन का मूल तत्व राजा के स्वेच्छाचरण की संतुष्टि पर आधारित नहीं है। कमजोर और स्वार्थी राजे कभी असली राज्यभक्ति को राजद्रोह और राजद्रोह को राजभक्ति समझ लेते हैं परन्तु यह समझ का फेर।

इसी उदाहरण को विश्व पर घटाइये। विश्व के शासन के कुछ मूल तत्व हैं। और उनका असली प्रयोजन है जीवों का हित। अतः उन मूल तत्त्वों के साथ सहयोग करना कर्त्तव्यता या शुभ कर्म है। और उनमें विघ्न डालने का विचार करना अकर्त्तव्यता या अशुभ कर्म है। इसी को पुरुषार्थी और अपुरुषार्थी कहेंगे। पुरुषार्थी का शाब्दिक, अर्थ यह है 'पुरुष का अर्थ' अर्थात् 'जीव का हित'। जीव का हित भी वह नहीं जो जीव चाहे। मनुष्य चाहता तो बुरा भी है और भला भी। हित है अन्तिम आध्यात्मिक उन्नति का विकास। अतः यह सिद्ध हुआ कि हमारा जो कर्म हमारे विश्व के आध्यात्मिक विकास में सहायक हो वही पुरुषार्थ है और जो बाधक हो वह अपुरुषार्थ। बच्चा रोग में अनिष्ट चीजें खाना चाहता है। उनको जुटाना न तो बच्चे का हित है न अर्थ। अतः जो बच्चे की इच्छा पूर्ति को ही उसका हित समझता है वह भूल करता है।

जीव और बुद्धि

प्रश्न- हमारी बुद्धि हम को सदा सन्मार्ग पर तो नहीं ले जाती।

उत्तर- इससे क्या? यह तो आपका काम है कि बुद्धि को किस प्रकार प्रयुक्त करें। केवल बुद्धि का प्रयोग मात्र ही आप की स्वतन्त्रता का द्योतक है।

प्रश्न- क्या ईश्वर ने किसी को अच्छी और किसी को बुरी बुद्धि देकर हम से विवेक की स्वतन्त्रता छीन नहीं ली? यदि हम को श्रेष्ठ बुद्धि मिलती तो हम कभी असन्मार्ग का अवलम्बन न कर सकते।

उत्तर- परमात्मा ने अकारण ही आपको बुरी बुद्धि नहीं दी। आपने अपने विवेक शून्य कर्मों से भी बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया। जो तराजू आपको मिली है, यदि वह आपकी असावधानी से टूट जाय तो दोष किस का? फिर भी आपकी तराजू आपके हाथ में है। आप बुद्धि के प्रयोग करने के अधिकार से कभी वञ्चित किये जाते। जब आपको मालूम हो जाय कि तराजू में बिगाड़ आ गया है तो आप उसे बना या सुधार सकते हैं। हर मनुष्य अपनी बुद्धि को ज्ञान, क्रिया तथा सावधानी से उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बना सकता या बिगाड़ सकता है। शराब पीने से बुद्धि बिगड़ती और घी दुध आदि के उचित प्रयोग से बढ़ती है। अतः बुद्धि के तारतम्य का दोष जगत् के नियन्त्रता पर लगाना दोष है।

प्रश्न- जब हमारी बुद्धियाँ भिन्न-भिन्न हैं कर्म भी भिन्न-भिन्न होंगे और फल भी भिन्न-भिन्न। फिर स्वतन्त्रता कैसी?

निर्वाचन के कई मार्ग-

उत्तर- यह ठीक है कि तीव्र बुद्धि वाला मनुष्य जो कर्म कर सकता है उसे मन्दबुद्धि नहीं कर सकता परन्तु मन्दबुद्धि वाले या तीव्र बुद्धि वाले मनुष्य के समक्ष निर्वाचन करने के लिये कई मार्ग खुले होते हैं या नहीं? यदि होते हैं तो स्वतन्त्रता सिद्ध है। एक चीटी भी जानती है कि उसके समक्ष कई मार्ग हैं। वह सोचती है और एक मार्ग पर चल देती है। इसी प्रकार पशु-पक्षियों का हाल है। आपके आँगन में आनेवाले कौए या अन्य पक्षी भी सोचते और एक मार्ग को छोड़ कर दूसरे का अवलम्बन करते हुए प्रतीत होते हैं। अतः सिद्ध है कि वे कार्य करने में स्वतन्त्र हैं। आप किसी कुत्ते को अपने स्वामी के साथ सड़क पर चलता हुआ देखें और

निरीक्षण करें। आप को ज्ञात होगा कि कुत्ता निरन्तर सोच रहा है कि अब क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये।

भाग्य प्रबल है या पुरुषार्थ

प्रश्न- भाग्य प्रधान है या पुरुषार्थ?

उत्तर- पुरुषार्थ प्रधान है क्योंकि भाग्य भी तो पुरुषार्थ का ही फल है। जब तक कर्म न हो तो तब तक फल की प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।

जो जस करहिं सो तस फल चाखा ॥

पुरुषार्थ कर्म है, भाग्य फल!

प्रश्न- तो पुरुषार्थ करते रहना चाहिये?

उत्तर- यह ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि पुरुषार्थ क्या है और क्या पुरुषार्थ नहीं। हर एक कर्म जो मनुष्य करता है पुरुषार्थ नहीं है न पारिभाषिक अर्थ में कर्म ही है।

किं कर्म किमकर्मैति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

विश्व में एक भ्रान्ति-

बहुत से लोग कुकर्मों को भी पुरुषार्थ समझते हैं। एक परीक्षार्थी का उदाहरण लीजिये। किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होना फल है जिसके पाने के लिए उसे यत्न करना है। उसका समस्त विहित विधान के अनुसार सावधानी से निरन्तर अध्ययन करना पुरुषार्थ है। अनिष्ट विधियों से परीक्षा भवन में नकल करना, परीक्षक को धमकी देना उस पर दबाव डालना या अन्य चालाकियाँ करना क्रियाएं (कर्म) तो हैं परन्तु उनको शुभ कर्म या पुरुषार्थ में नहीं गिन सकते। संसार में यह बड़ा भ्रम फैला हुआ है कि प्रत्येक चालाकी, मक्कारी और दगाबाजी को पुरुषार्थ समझकर लोग बुरे कर्मों में उलझे रहते हैं। उनका फल बुरा होता है। प्रायः सर्वसाधारण में तदबीर तकदीर के विवाद चलते रहते हैं। प्रायः चालाकी से की हुई दौड़ धूप को तदबीर या पुरुषार्थ समझ लिया जाता है। रिश्वत देना तदबीर, झूठ बोलना तदबीर, चालाकी चलना तदबीर। जो रिश्वत न दे या चालाकी न चले उसको कहेंगे कि "यह तो रहा, इसने तदबीर तो की ही नहीं। बिना पुरुषार्थ किये भी फल मिल सकता है क्यों?" इस प्रकार संसार में शुभ कर्म को पुरुषार्थ नहीं समझा जाता। इसी कारण पाप में पवृत्ति बढ़ती है और वह दुःखमूलक भी होती है। वस्तुतः कर्त्तव्य परायणता पुरुषार्थ है। अन्य सब अपुरुषार्थ या असली तदबीर का उल्टा मात्र।

योगदर्शन और कर्म-

प्रश्न- योगदर्शन में कर्म विषय में दो सूत्र दिये हैं-

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

ते ह्यदपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥

कर्म का मूल रहने पर जब वह पकता है तो जन्म, आयु और भोग के रूप में आविर्भूत होता है। यह जन्म आयु और भोग, पुण्य और पाप की अपेक्षा से सुख और दुःख रूपी फल वाले होते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि कर्म का फल सुख या दुःख है या जन्म (जीवन) की इयता और भोग। दूसरा प्रश्न यह है कि भोग सुख और दुःख से इतर क्या वस्तु है? अथवा भोग का ही नाम सुख और दुःख है? तीसरा प्रश्न यह है कि यदि कर्म का फल सुख या दुःख ही है तो 'जाति' और 'आयु' कहने की क्या आवश्यकता थी? चौथा प्रश्न यह है कि क्या जाति, आयु और भोगों के पिछले कर्मों के अनुसार नियत होने पर आगे को स्वतन्त्र कर्म करने का कोई अवसर रहता है या नहीं? क्या हमारा प्रत्येक कर्म केवल भोगों के भोगने का ही एक प्रकार मात्र है? इनको समझाइये।

(कर्म-फल-सिद्धान्त से साभार)

आर्य समाज सांताक्रुज, मुम्बई का मासिक मुखपत्र
वर्ष : ८ अंक १० (अक्टूबर-२०१७)

- दयानंदाब्द : १९४, विक्रम सम्वत् : २०७४
- सृष्टि सम्वत् : १,९६,०८,५३,११८

प्रबन्ध संपादक : चन्द्रगुप्त आर्य
संपादक : संगीत आर्य
सह संपादक : संदीप आर्य
कार्यकारी संपादक : विनोद कुमार शास्त्री
लालचन्द आर्य, रमेश सिंह आर्य,
यशबाला गुप्ता.

विज्ञापन की दरें : शुल्क

- पूरा पृष्ठ : रु. ३,०००/- • एक प्रति : रु. ९/-
- १/२ पृष्ठ : रु. २,०००/- • वार्षिक : रु. १००/-
- १/४ पृष्ठ : रु. १,५००/- • आजीवन : रु. १०००/-
- विशेषांक की दरें भिन्न होंगी।

वर्गीकृत विज्ञापन

रु. १०/- प्रति शब्द, न्यूनतम रु. ५००/-

चैक/डीडी/मनी आर्डर आदि 'आर्य समाज सांताक्रुज' के नाम से ही भेजें, मुंबई के बाहर के चैक न भेजें। विज्ञापन सामग्री १० तारीख तक भेजें। 'नूतन निष्काम पत्रिका' का मुद्रण ऑफसेट विधि से होता है।

पता : आर्य समाज सांताक्रुज
(विठ्ठलभाई पटेल मार्ग) लिंकिंग रोड, सांताक्रुज (प.),
मुंबई-५४. फोन : २६६० २८००, २६६० २०७५

अनुक्रमणिका	पृष्ठ सं.
कर्तव्य-अकर्तव्य	२
सम्पादकीय	३
सात मर्यादाएँ	४-६
बल का देनेवाला ईश्वर	७-८
सहन स्वभाव दयानन्द	९
उपासना-विधि	१०
प्रभु कृपा से हमारी वासनायें नष्ट हों	११-१२
संध्या: क्या?, क्यों?, कैसे?,	१३
मोह-ममता के रिश्ते हैं सब, कोई नहीं यहाँ...	१४-१६

सम्पादकीय

ऋषि निर्वाण

जिस समय बालक मूलशंकर अपने प्रिय चाचा, प्रिय बहन की मृत्यु को देखकर मृत्यु को जीतने की जिज्ञासा से सबसे पूछने लगा कि मृत्यु को जीतने का उपाय क्या है, तब उत्तर मिला कि योग से ही मृत्यु को जीता जा सकता है और शिवरात्रि के दिन का वह दृश्य जिस समय एक असहाय शिव की मूर्ति जिसे भगवान कहा गया था और जिसके चढावे को मूषक खा रहे थे, जिसे देखकर बालक मूलशंकर को जिज्ञासा हुई कि जो अपने चढावे की रक्षा नहीं कर सकता वह हमारी क्या रक्षा करेगा, इन घटनाओं ने बालक को सांसारिक बंधनों से मुक्त कराने का मार्ग प्रशस्त किया। ये वो समय था जब तथाकथित हिन्दू सम्प्रदाय या भ्रमित, पतित वैदिकधर्मी आर्यावर्तीय हमारे पूर्वज ब्राह्मणपोषित वर्ण व्यवस्था से जकड़ित एवं असहाय व बेबस बने हुये थे। कर्मकांड की आड़ में कुप्रथाओं और कुरीतियों ने उन्हें खोखला कर दिया था। परिणामस्वरूप आक्रांताओं ने भी हमपर सदियों तक शासन किया।

लेकिन ऐसी विपरीत परिस्थिति में भी मथुरा में एक वैदिकधर्मी दीप विरजानन्द सरस्वती के रूप में जल रहा था जिसकी खबर मूलशंकर से दयानंद बने सन्यासी को लग चुकी थी और यहीं से दयानंद के ज्ञान और सच्चाई की जिज्ञासा की पिपासा शांत हुई थी। इसके उपरांत महर्षि ने क्रांति करके सोये हुये तथाकथित हिंदुओं (वास्तव में भ्रमित वैदिकधर्मी) को वेद मार्ग पर चलने का आह्वान किया और प्रशंसकों के आग्रह पर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्य समाज की स्थापना की।

महर्षि ने वैदिक मान्यतानुसार त्रैतवाद का प्रतिपादन किया। प्रकृति, आत्मा और परमात्मा ये तीनों नित्य हैं। ईश्वर निराकार है और उसकी प्रतिमा नहीं है। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने अमैथुनी असंख्य युवा स्त्री पुरुष उत्पन्न किये जिनसे जनम मरण का यह क्रम आगे बढ़ा और आज तक चला आ रहा है। श्रेय मार्ग पर चलकर अर्थात् भोगवाद से अनासक्त रहकर जन्म मरण के बंधन से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना ही आत्मा का अंतिम लक्ष्य है। ईश्वर की बनाई व्यवस्था के अनुकूल यज्ञीय कर्म करते हुये जीने का वैदिक मार्ग महर्षि ने बताया। सत्यार्थ प्रकाश के माध्यम से सत्य ज्ञान का मानव मात्र के कल्याण के लिये प्रकाश किया। जीवित पितरों का ही श्राद्ध तर्पण होता है यह बताया। कर्मपोषित वर्ण व्यवस्था का वैदिक प्रमाणों से पुनर्स्थापन किया। संकेतरूप में हमें सही वेद मार्ग पर पुनः चलना सिखाया।

आइये! इस ऋषि निर्वाण पर हम पुनः संकल्प लें कि महर्षि के पुरुषार्थ को व्यर्थ नहीं जाने देंगे और न ही स्वयं जन्मपोषित वर्णव्यवस्था के लोभ में आकर आर्य समाज के आंदोलन को शिथिल करेंगे। तथाकथित हिन्दू मंतावलंबियों का कल्याण भी तभी संभव होगा जब हम उन्हें वेद के मार्ग पर लाने में सक्षम हो पायेंगे। यही ऋषि निर्वाण के दिन सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

संगीत आर्य

9323573892

सात मर्यादाएँ

आचार्य प्रियव्रत

सप्त मर्यादा कवयस्ततक्षुस्

तासमिदेकाम्भ्यंहरो गात्।

आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे

पथां विसर्गे धरूणेषु तस्थौ ॥६॥

अर्थ- (कवयः) क्रान्तदशी वरुण भगवान् ने (सप्त) सात (मर्यादाः) मर्यादाएँ (ततक्षुः) बनाई हैं (तासाम्) उनमें से (एकाम्) एक को (इत्) भी यदि कोई (अभ्यगात्) उल्लंघित कर देता है- तोड़ देता है, तो वह (अंहुरः) पापी होता है, (पथाम्) विविध मार्गों का (विसर्गे) त्याग कर देने पर (धरूणेषु) धारण करनेवाली-रक्षा करनेवाली अनेक शक्तियों के बीच में (आयोः) मनुष्य का (स्कम्भः) मर्यादा-भङ्ग से थामनेवाला सहारा (उपमस्य) सबके समीप रहनेवाले वरुण प्रभु के (नीडे) आश्रय में (ह) ही (तस्थौ) स्थित है।

भगवान् ने सात मर्यादाएँ बनाई हैं। हम यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो उनमें से किसी एक का भी हमें उल्लंघन नहीं करना चाहिए- किसी एक को भी हमें नहीं तोड़ना चाहिए। यदि हम उनमें से किसी एक का भी उल्लंघन करते हैं तो हम पापी हो जाते हैं और पापी का कल्याण नहीं हो सकता।

वे सात मर्यादाएँ कौन-सी है? भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से इन मर्यादाओं की कल्पना की है। आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त में इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए निम्न सात मर्यादाएँ बताई हैं- (१) चोरी न करना (२) व्यभिचार न करना (३) ब्रह्महत्या न करना (४) गर्भपात न करना (५) मद्यपान न करना (६) किसी बुरे काम को बार-बार न करना (७) पाप हो जाने पर झूठ न बोलना।

सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र का अर्थ करते हुए एक तो सात मर्यादाएँ वे ही स्वीकार की हैं जो यास्काचार्य ने लिखी हैं। दूसरे मनु आदि ने अपने शास्त्रों में जो त्यागने योग्य कामज और क्रोधज दोष लिखे हैं उनमें से प्रधान सात को छाँटकर उनके परित्याग को सात मर्यादाएँ माना है। वे काम और क्रोध से पैदा होनेवाले सात दोष जिनसे हमें सदा बचना चाहिए, निम्न हैं- (१) मद्य पीना (२) जुआ खेलना (३) स्त्रियों में अत्यासक्ति (४) शिकार खेलना प्राणियों की हिंसा करना (५) निरपराध को दण्ड देना (६) कठोर वाणी बोलना (७) दूसरों पर मिथ्या दोषारोपण करना।

चाहे हम यास्क का अर्थ स्वीकार करें और चाहे सायण का। दोनों ही ने जो मर्यादाएँ बताई हैं वे पूर्ण रीति से पालन करने योग्य हैं। उनमें से किसी एक का उल्लंघन करना भी हमारे जीवन को घोर पापी बनाएगा। उनमें से अधिकांश के या सबके उल्लंघन का तो कहना ही क्या? तब तो मनुष्य का जीवन पाप से सना हुआ हो जाएगा। इन मर्यादाओं का उल्लंघन- इन निषिद्ध कर्मों का करना कितना अधिक

पाप पूर्ण है, कितना अधिक मनुष्य को पतित करनेवाला और उसकी अध्योगति करनेवाला है, इसे पाठक अच्छी तरह समझ सकते हैं। हमें यहाँ इनकी विस्तार से व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।

हमें इन सात मर्यादाओं की एक और व्याख्या भी सूझती है। पाठकों के विचार और मनोरंजन के लिए उसे भी यहाँ लिख देते हैं। वेद में कई स्थान पर इस प्रकार के वर्णन आते हैं कि हमारे इस शरीर में सात ऋषियों का निवास है-

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। - यजुः ३४/५५

अत्रासत ऋषयः सप्त साकम्। - अथर्व १०।८।९

ये सात ऋषि आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा- ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन तथा आत्मा हैं। ऋषि का शब्दार्थ होता है देखनेवाला- जाननेवाला, क्योंकि हमें संसार के सब पदार्थों का ज्ञान इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मन तथा आत्मा के द्वारा ही होता है, इसलिए ये सात ऋषि हैं। यास्काचार्य ने सात ऋषियों का यही अर्थ किया है। शरीर में रहनेवाले सात ऋषि अर्थात् ज्ञान के साधन इन सातों से भिन्न और कोई हो भी नहीं सकते। अब इन सातों ऋषियों के हमारे जीवन में अपने-अपने निश्चित कार्य हैं जिनसे हमारा जीवन चलता है। इन ऋषियों का अपना-अपना जीवनोपयोगी निश्चित कार्य ठीक प्रकार से जैसा चाहिए वैसा होते रहना तो मर्यादा है और इनके कार्य ठीक प्रकार से जैसा चाहिए वैसा न होना मर्यादा का उल्लंघन है। परमात्मा ने इन सातों को शरीर में अपना-अपना काम सौंप रखा है। इनके उस काम का भली-भाँति होते रहना मर्यादा है और भली- भाँति न होना, इस प्रकार होना जिससे जीवन हीन, पतित और संकटग्रस्त हो जाए मर्यादा का भङ्ग है।

आँख का कार्य रूप दिखाना है। रूपों का देखना जीवन को भली-भाँति चलाते हैं जहाँ तक सहायक है वहाँ तक तो हमें अपनी आँखों को रूप से क्षेत्र में जाने देना चाहिए, इससे आगे नहीं। इससे आगे रूप विषय बन जाता है- बाँधनेवाला, फँसानेवाला बन जाता है। इससे आगे जाना रूप देखना नहीं रहता। वह रूपासक्ति हो जाती है। रूप-ज्ञान तो जीवन के लिए सहायक और आवश्यक है, परन्तु रूपासक्ति जीवन को हीन, पतित और संकटमय बना देती है।

रूपासक्ति में पड़कर मनुष्य न जाने कैसे-कैसे निन्दनीय पापाचरण कर बैठता है। दूसरे शब्दों में नेत्रों से होनेवाले पाप न करना यह एक मर्यादा है। हमें इस नेत्र-मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए। आँख से होनेवाले पाप हमें नहीं करने चाहिए। यदि हम इका उल्लंघन करेंगे तो पापी हो जाएंगे।

कान का कार्य शब्द का ज्ञान कराना है। जहाँ तक शब्द-ज्ञान जीवन के लिए सहायक है वहाँ तक तो हमें कानों को शब्द के क्षेत्र में रहने देना चाहिए। उससे आगे उन्हें नहीं जाने देना चाहिए। उससे आगे जाने देना

शब्दासक्ति, शब्दरस या ध्वनिलोलुपता है। शब्द-ज्ञान तो जीवन के लिए सहायक और आवश्यक है, परन्तु शब्दरस जीवन को हीन, पतित और संकटमय बना देता है। वह विषय बन जाता है- बाँधनेवाला, फँसानेवाला बन जाता है। शब्दरस में फँसकर मनुष्य न जाने कैसे निन्दनीय आचरण कर बैठता है। दूसरे शब्दों में कानों द्वारा शब्दरस में फँसकर होनेवाले पाप न करना, यह दूसरी मर्यादा है। हमें इस श्रवणमर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए, कान से होनेवाले पाप हमें नहीं करने चाहिए। हम यदि इसका उल्लंघन करेंगे तो पापी हो जाएँगे।

नाक का कार्य गन्ध का ज्ञान कराना है। जहाँ तक गन्ध-ज्ञान जीवन के लिए सहायक और उपयोगी है, वहाँ तक तो हमें नासिका को गन्ध के क्षेत्र में जाने देना चाहिए, इससे आगे नहीं। इससे आगे जाना गन्धग्रहण न रहकर गन्धासक्ति हो जाती है। गन्धग्रहण, गन्धज्ञान तो जीवन के लिए सहायक और आवश्यक है, परन्तु गन्धासक्ति जीवन को हीन, पतित और संकटमय बना देती है। गन्धासक्ति विषय बन जाती है- बाँधनेवाली, फँसानेवाली बन जाती है। गन्धासक्ति में फँसकर मनुष्य न जाने कैसे-कैसे हीन आचरण कर बैठता है। दूसरे शब्दों में, गन्धासक्ति में फँसकर होनेवाले बुरे आचरणों को न करना, तीसरी मर्यादा है। हमें इस घ्राणमर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। नाक से होनेवाले पाप हमें नहीं करने चाहिए। यदि हम इसका उल्लंघन करेंगे तो पापी हो जाएँगे।

रसना का कार्य पदार्थों के रस को-उनके स्वाद को-बताना है। जिह्वा द्वारा विभिन्न पदार्थों का रसग्रहण जहाँ तक जीवन के लिए सहायक और उपयोगी है वहाँ तक तो हमें उसे रस के क्षेत्र में जाने देना चाहिए। उससे आगे नहीं। उससे आगे जाना रसग्रहण न रहकर रसासक्ति हो जाती है। रसग्रहण तो जीवन के लिए सहायक और आवश्यक है, परन्तु रसासक्ति जीवन को हीन, पतित और संकटमय बना देती है। रसासक्ति विषय बन जाती है- बाँधनेवाली, फँसानेवाली बन जाती है। रसासक्त होकर न जाने कैसे-कैसे बुरे आचरण मनुष्य कर बैठता है। दूसरे शब्दों में रसासक्ति में फँसकर होनेवाले बुरे आचरणों को न करना, चौथी मर्यादा है। हमें इस रसना-मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना, चाहिए। रसना से होनेवाले पाप हमें नहीं करने चाहिए। यदि हम इसका उल्लंघन करेंगे।

त्वचा का कार्य स्पर्श का ज्ञान कराना है। शीत, उष्ण, नरम, खुरदरे आदि स्पर्शों का ज्ञान हमारे जीवन के संचालन और रक्षण के लिए नितान्त आवश्यक होता है। जहाँ तक स्पर्श-ज्ञान जीवन के लिए सहायक और उपयोगी है वहाँ तक तो हमें अपनी त्वाच-इन्द्रिय को स्पर्श के क्षेत्र में जाने देना चाहिए, उससे आगे नहीं। उससे आगे जाना स्पर्शग्रहण न रहकर स्पर्शासक्ति बन जाती है। स्पर्शग्रहण तो जीवन के लिए सहायक और आवश्यक है, परन्तु स्पर्शासक्ति जीवन को हीन, पतित और संकटमय बना देती है। स्पर्शासक्ति विषय बन जाती है- बाँधनेवाली, फँसानेवाली बन जाती है। स्पर्शासक्ति के अनेक भेद हैं।

स्पर्श में अति मुलायम और नरम लगनेवाले वस्त्रों को धारण करने की लालसा होना एक प्रकार की स्पर्शासक्ति है। नर-नारी के शरीरों की पारस्परिक कोमलता और मृदुता का स्पर्श करने की लालसा होना एक दूसरे प्रकार की स्पर्शासक्ति है। नर-नारी की परस्पर सम्भोग करने की लालसा होना एक तीसरे प्रकार की स्पर्शासक्ति है। चुम्बन करने की इच्छा होना एक चौथे प्रकार की स्पर्शासक्ति है। बहुत बार ऐसा भी होता है कि एक आसक्ति के साथ दूसरी आसक्ति भी मिली रहती है। सुन्दर वस्त्रों के धारण में स्पर्शासक्ति के साथ रूपासक्ति भी मिली रहती है। इसी प्रकार नर-नारी के परस्पर आकर्षण में स्पर्शासक्ति के साथ रूपासक्ति भी मिली रहती है। अन्य आसक्तियों की भाँति स्पर्शासक्ति में फँसकर भी न जाने मनुष्य कैसे-कैसे पापाचरण कर बैठता है। दूसरे शब्दों में स्पर्शासक्ति में फँसकर होनेवाले पापों को न करना पाँचवी मर्यादा है। हमें इस मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। हमें त्वचा से होनेवाले पाप नहीं करने चाहिए। यदि हम इसका उल्लंघन करेंगे तो पापी बन जाएँगे।

छठी मर्यादा मन की है। मन हमारे ज्ञान को, हमारी बुद्धि को, हमारी समझ को सूचित करता है। जैसी हमारी बुद्धि होती है, जैसा हमारा ज्ञान होता है, जैसी हमारी समझ होती है, हम उसी प्रकार के आचरण किया करते हैं। एक विशेष प्रकार की बुद्धि या मनवाला व्यक्ति ऊपर वर्णित इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होता और एक दूसरे प्रकार की बुद्धि या मनवाला व्यक्ति उनमें झूट आसक्त हो जाता है। इन्द्रियों की आसक्ति का मूलकारण वस्तुतः हमारा मन, हमारी बुद्धि या हमारी समझ ही होती है। जैसी हमारे मन की बनावट होगी उसी के आधार पर हम इन्द्रियों के विषयों में आसक्त या अनासक्त रहेंगे, इसलिए यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि हम देखते रहें कि हमारा मन कैसा बन रहा है, हमारी बुद्धि कैसी हो रही है- उसमें किस प्रकार के ज्ञान का, किस प्रकार के विचारों का घर बन रहा है। हमारे मन में उस प्रकार के विचारों का घर होना चाहिए, जिस प्रकार के विचारों से हम इन्द्रियों के विषयों में आसक्त न हों। हमारा मन सही विचारों का घर होना चाहिए, भ्रान्त विचारों का नहीं। भ्रान्त विचार भ्रान्त पुरुषों और भ्रान्त पुस्तकों की सञ्ज्ञति में रहने से पैदा होते हैं। हमें उनसे बचना चाहिए और सही विचार देनेवाले पुरुषों और पुस्तकों की सञ्ज्ञति में रहना चाहिए। हमारे मन के भ्रान्त विचार हमें इन्द्रियों के विषयों में आसक्त कराके तो हमसे पापाचरण करा ही डालते हैं, वे हमसे कई इस प्रकार के पाप और दुराचरण भी करा डालते हैं, जिनका पाँच इन्द्रियों के विषयों के विषयों की आसक्ति से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। झूठ बोलना, जूआ खेलना, दूसरों पर मिथ्या दोषारोपण करना, दूसरों की स्वतन्त्रता को हर लेना आदि इसी दूसरी कोटि के अपराध हैं। इन अपराधों का मूल कारण हमारे मन का भ्रान्त और अधूरा ज्ञान ही है। अपने मन के अधूरे और भ्रान्त ज्ञान के कारण न जाने हम कैसे-कैसे भयंकर-से-भयंकर पापाचरण किया करते हैं। मन को भ्रान्त विचारों के मार्ग पर न जाने

देना, जिससे हम पापाचरणों से बचे रहें छठी मर्यादा है। हमें इस मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। हमें मन से होनेवाले पाप नहीं करने चाहिए। यदि हम इसका उल्लंघन करेंगे तो पापों में फँसे रहेंगे।

सातवी मर्यादा आत्मा की है। हमारा आत्मा अपने-आपमें शुद्ध और पवित्र है। अपने-आपमें वह पाप की ओर नहीं जाता, परन्तु जब वह शरीर के बन्धन में आ जाता है और उसे भिन्न-भिन्न विषयों को दिखानेवाली इन्द्रियाँ मिल जाती है तथा भ्रान्त विचार देनेवाले पुरुषों और ग्रन्थों की सङ्गति मिल जाती है तब वह पाप की ओर भी प्रवृत्त होने लगता है। मन और आत्मा, बुद्धि या ज्ञान और आत्मा दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। ज्ञान आत्मा का ही गुण है, वह आत्मा में ही रहता है और इसलिए भ्रान्त ज्ञान से होनेवाले पापाचरणों की जिम्मेवारी वस्तुतः आत्मा पर ही है, परन्तु जब आत्मा शरीर के बन्धन में आ जाता है तब वह शरीर में रहनेवाले कुछ साधनों के द्वारा ही ज्ञान का सम्पादन कर सकता है। इन साधनों में प्रधान साधन को भारतीय विचारधारा मन के नाम से कहा जाता है और पश्चात्य विचारधारा में मस्तिष्क के नाम से कहा जाता है। मन और मस्तिष्क आत्मा के ज्ञानसंग्रह के प्राकृतिक साधन हैं, जो शरीर में रहते हैं। हो सकता है कि ये एक ही वस्तु के दो नाम हों। यह भी हो सकता है कि मन मस्तिष्क में रहनेवाला कोई पृथक् प्राकृतिक सूक्ष्म पदार्थ हो, क्योंकि शरीर में रहनेवाला आत्मा मन या मस्तिष्क द्वारा ही ज्ञान का संग्रह और प्रकाश कर सकता है, इसलिए मन को एक पृथक् सत्ता मानकर उसके सही आचरण को एक पृथक् मर्यादा बता दिया गया है। यों प्राकृतिक अर्थ में मन एक जड़ वस्तु है जोकि ज्ञान के संग्रह और प्रकाश का साधन मात्र है और आत्मिक अर्थ में मन मनन का, चिन्तन का, विचार का, बुद्धि का, ज्ञान का नाम है, जोकि आत्मा का ही गुण है और जो आत्मा से कभी पृथक् नहीं रहता। इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले विषयों और उत्पथ पर ले-जानेवाले पुरुषों और ग्रन्थों और ग्रन्थों की सङ्गति में आकर चाहे आत्मा पापाचरणों में प्रवृत्त हो जाता है और असावधान रहे तो चाहे बहुत लम्बे समय तक भी उनमें प्रवृत्त हुआ रहता है, परन्तु फिर भी उसमें यह शक्ति है कि यदि वह चाहे और एक बार संकल्प कर ले कि बस, अब इस पाप के मार्ग को छोड़ देना है तो वह तत्काल पाप के मार्ग को छोड़कर पुण्य के पथ पर चलने लग सकता है। आत्मा की संकल्पशक्ति में इतना बल है। आत्मा अपनी संकल्पशक्ति को प्रयोग में लाकर सदा पुण्य के मार्ग में चलता रहे, यह सातवी मर्यादा है। हमें इस मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। हमें आत्मिक पाप नहीं करने चाहिए। यदि हम इसका उल्लंघन करेंगे तो हम पापी हो जाएँगे।

संसार के जितने और भी पाप हैं वे इन्हीं सातों मर्यादाओं के भङ्ग से होते हैं। इनसे बाहर कोई पाप नहीं रह जाता। सात मर्यादाओं की हमारी यह व्याख्या स्वीकार कर लेने पर ये मर्यादाएँ एक निश्चित आधार पर आश्रित हो जाती हैं, फिर इनकी भिन्न-भिन्न कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रहती। नहीं तो सदा यह प्रश्न रहेगा कि अमुक-अमुक

सात पापों का वर्जन ही मर्यादा क्यों है, दूसरे पापों को क्यों नहीं? फिर यह भी प्रश्न रहेगा कि भगवान् की बाँधी हुई सात मर्यादाएँ कौन-सी हैं? हमारी व्याख्या में इन प्रश्नों का स्थान नहीं रहता। यास्काचार्य और सायणाचार्य के परिगणन को हमारी निर्दिष्ट मर्यादाओं के भङ्ग के कुछ स्थूल उदाहरणमात्र समझा जा सकता है और इस प्रकार दोनों व्याख्याओं की सङ्गति हो जाती है।

परन्तु हम तो इन मर्यादाओं का भङ्ग प्रायः करते रहते हैं और इसलिए पाप के भागी बनते रहते हैं। इस मर्यादा भङ्ग से- इस पाप में गिरते रहने से हमारी रक्षा कैसे होगी? पाप के इस मार्ग पर चलने से हमें कौन रोकेगा? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र के उत्तरार्द्ध में दिया गया है। मन्त्र कहता है कि मनुष्य को पाप के गढ़े में गिरने से रोकने- थामनेवाला सहारा एक ही जगह है। वह जगह है प्रभु का आश्रय। इस आश्रय को ढूँढ़ने के लिए हमें कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रभु का यह आश्रय हमारे अत्यन्त समीप है। प्रभु हम सबके घट-घट के वासी हैं। उन्हें अपने हृदय में ही पा लेना होता है। जब मनुष्य इस सहारे को पा लेगा, जब वह इस स्कम्भ से-स्तम्भ से अपने-आपको को बाँध लेगा तब विषयों की बाढ़ उसे पाप में गिराने के लिए बहाकर नहीं ले जा सकेगी। पाप से बचने के लिए प्रभु का आँचल पकड़ लेना ही एकमात्र रास्ता है, जिसपर चलने से हम पाप से बच सकते हैं। परमात्मा से भिन्न पदार्थों की उपासना के जितने भी मार्ग हैं उन सबका हमें परित्याग कर देना होगा। अन्य सब मार्गों का परित्याग करके हमें प्रभु की उपासना में- प्रभु की सङ्गति में जाना होगा। तभी हमारा पाप से परित्राण हो सकेगा। अच्छे गुरु, माता-पिता आदि और भी अनेक हमारे धरुण-हमारे धारण करनेवाले, हमारी रक्षा करनेवाले हो सकते हैं, परन्तु इनसे मिलनेवाला सहारा कुछ दूर तक ही हमारे काम आता है। ये सब अपूर्ण हैं, इसलिए इनसे पूर्ण परित्राण हमें नहीं मिल सकता। घट घट के वासी अन्तर्यामी वे प्रभु पूर्ण हैं। वे ही हमें पाप से पूरी तरह त्राण दे सकते हैं। भगवान् में सत्य, न्याय, दया, ज्ञान, संयम आदि गुण परिपूर्ण मात्रा में रहते हैं। वहाँ इन गुणों की पराकाष्ठा- हद हो गई है। प्रभु का आँचल पकड़ लेने पर, प्रभु की उपासना में- प्रभु की सङ्गति में चले जाने पर, हमारे अन्दर भी ये गुण भरपूर परिमाण में संक्रान्त हो जाएँगे और तब हमें पाप में फिसलने का डर नहीं रहेगा।

मन्त्र का “कवयः” शब्द परमात्मा का वाचक है। वेद में स्थान-स्थान पर परमात्मा को कवि कहा गया है। परमात्मा सब पदार्थों का पारदर्शी ज्ञान रखने तथा वेद काव्य के कर्ता होने के कारण कवि है। मन्त्र में “कवयः” पद बहुवचनान्त है। व्याकरण की रीति से इसे आदर में बहुवचन समझना चाहिए।

हे मेरे आत्मन्! तू भी अपने-आपको अन्तर्यामी प्रभु के खम्भे से भली भाँति बाँध ले, फिर तुझे पाप की बाढ़ में बह जाने का डर नहीं रह जाएगा।

बल का देनेवाला ईश्वर

स्वामी देवव्रत सरस्वती

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।

यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यजु. २५/१३)

यःजो (आत्मदाः) आत्म ज्ञान का दाता (बलदाः) शरीर, आत्मा और समाज के बल का देने हारा (यस्य) जिसकी (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं (यस्य) जिसका (प्रशिषम्) सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा (दण्ड व्यवस्था) को मानते हैं (यस्य) जिसका (छाया) आश्रम ही (अमृतम्) मोक्ष सुखदायक है (यस्य) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हम लोग उस (कस्मै) सुख स्वरूप (देवाय) सकल ज्ञान के देने हारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये (हविषा) आत्मा और अन्तःकरण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें।

परमेश्वर की भक्ति किसलिये करें? उसकी भक्ति या स्तुति उपासना करने से क्या ईश्वर पापों को क्षमा कर देगा? यदि नहीं तो फिर अनावश्यक समय लगाने का लाभ? ये बातें प्रायः लोग पूछते हैं। सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में इन प्रश्नों का बहुत ही सटीक उत्तर दिया है-

“जब इन (योग के) साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्य प्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ प्रहार में एक घड़ी भर भी इस प्रकाश ध्यान करता है वह सदा उन्नति को प्राप्त होता है। इसका फल जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के समीप जाने से शीत निवृत्त हो जाता है वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष छूट कर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिये परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना अवश्य करनी चाहिये। इसका फल पृथक् होगा परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरायेगा और सबको सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी बात है?”

इतनी भूमिका में बहुत कुछ स्पष्ट हो जाने के पश्चात् ईश्वर उपासक को क्या देता है इस पर चर्चा करें।

१. य आत्मदाः जो परमेश्वर आत्म ज्ञान और आत्मा के बल को देने हारा है। यहाँ ईश्वर भक्ति का पहला लाभ आत्मज्ञान की प्राप्ति होना बतलाया है। योग दर्शन में इस विषय को स्पष्ट किया है-

ईश्वर प्रणिधानाद् वा (योग. १/२३) ईश्वर की विशेष भक्ति और अपने सब सामर्थ्य, गुण, प्राण, आत्मा और मन आदि को ईश्वर के लिये समर्पण करने से ईश्वर उस उपासक पर अनुकम्पा करता है। उसकी कृपा दृष्टि से योगी को बहुत शीघ्र समाधि लाभ होता है।

तस्य वाचकः प्रणवः (योग. १/२७) ओ३म् यह ईश्वर का मुख्य

निज नाम है। अन्य गुणों के आधार पर बहुत सारे नाम हैं।

तज्जपस्तदर्थं भावनम् (योग. १/२८) इस ओंकार वाच्य ईश्वर के नाम का जप और इसका अर्थ चिन्तन भी करना चाहिये। वह परमात्मा सर्वव्यापक है और सर्वत्र हमारी रक्षा कर रहा है इस भावना के साथ जप करना चाहिये।

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च (योग. १/२९) ओंकार के जप और अर्थ भावना से आत्मा के स्वरूप का ज्ञान और व्याधि, संशय आदि विघ्नों का नाश हो जाता है।

इसी बात की छान्दोग्योपनिषद् पुष्टि करती है- ‘अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय स्वेन रूपेणाभि निष्पद्यते एष आत्मा’ (छा. ८/४) योगाभ्यास से निर्मल हुआ आत्मा इस शरीर से ऊपर उठकर अर्थात् इस शरीर में आत्म भावना को त्याग कर उस परम ज्योति को प्राप्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट होता है। तब उसी को आत्मा कहा जाता है।

न केवल आत्मज्ञान अपितु प्रकृति से परमेश्वर तक सभी पदार्थों का ज्ञान उसे प्राप्त हो जाता है और फिर किसी अन्य पदार्थ के जानने की इच्छा नहीं रहती।

२. बलदाः परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना से आत्मा के बल में वृद्धि और शरीर में भी उत्साह का सञ्चार हो जाता है, इस विषय में सत्यार्थप्रकाश की साक्षी पहले दी जा चुकी है। ईश्वर-इन्द्रस्य युज्यः सखा आत्मा का सबसे घनिष्ठ मित्र है। जब अन्य लोग साथ छोड़ते दिखाई देते हैं उस समय परमेश्वर ही एक मात्र साथी होता है-

हर मुश्किल में वो ही आकर सबको धीर बन्धाता।

भवसागर में अटकनैया वो ही पार लगाता॥

संकट रूपी इस नैया को पल में लेता थामा॥१॥

साचा बस एक प्रभु का नाम।

वो ही सबका पालन हारा वो ही तारण हारा।

दीन दुःखी और निर्बल जनों का वो ही एक सहारा॥

वो है प्रेम का भूखा प्यारे मांगे न कोई दामा॥२॥

साचा बस एक प्रभु का नाम।

उसकी कृपा होने पर पंगु भी गिरि को लांघ जाता है। इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि ईश्वर किसी दूसरे मनुष्य के समान किसी का हाथ पकड़ कर पहाड़ को लंघवा देता है। वास्तविकता यह है ईश्वर के विश्वास पर जब कोई शुभ कार्य प्रारम्भ किया जाता है तो मन में स्फूर्ति और उत्साह की वृद्धि होने से व्यक्ति दो गुने उत्साह से अपने कार्य में लग जाता है। उसका मनोबल बना रहता है। जिसका अपने पर विश्वास है, परमात्मा प्रत्येक अच्छे कार्य में उसकी सहायता करता है। ‘हिम्मत का है

राम हिमाती' इस लोकोक्ति में पर्याप्त सचाई है।

ईश्वर भक्ति से सामाजिक कार्य भी निर्विघ्न पूरे होते हैं। जब कोई भी कार्यकर्ता इस भावना से कार्य करेगा कि मैं यह कार्य ईश्वर की आज्ञा मान जनहित में कर रहा हूँ और मेरा इसमें कोई निजी स्वार्थ नहीं है तो उस कार्य में सफलता मिलेगा ही। ईश्वर भक्त को सर्वत्र ईश्वर ही दृष्टिगत होगा और वह वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से सबके साथ प्रेम का व्यवहार करेगा। इसका प्रभाव दूसरे लोगों पर भी अच्छा पड़ेगा और एक अन्नत समाज का निर्माण होगा जिसके केन्द्र में ईश्वर होगा।

प्रशिक्षं यस्य देवाः विद्वान् लोग जिस ईश्वर का शासन और न्याय व्यवस्था को मानते हैं। विद्वान् एवं मूर्ख में यही भेद है कि मूर्ख अपने भाग्य को कोसता या दूसरे लोगों पर आरोप लगाता है वहाँ विद्वान् पुरुष परमात्मा की न्याय व्यवस्था को शिरोधार्य करके विपत्ति में भी अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होता।

मन्त्र के उत्तरार्ध में दो महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख हुआ है- यस्यच्छायाऽमृतं यस्यमृत्युः जिसका आश्रय मोक्षसुख को प्राप्त कराने वाला है और जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, उस परमेश्वर की हम भक्ति करें।

जन्म और मृत्यु ये दोनों अनादि काल से चले आ रहे हैं जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु भी निश्चित रूप से होगी और जिसकी मृत्यु हुई है उसका कर्मों के अनुसार किसी योनि में जन्म भी होगा। अरघट मालिका के समान यह चक्र चलता रहता है जब तक कि ज्ञान घन से इसे तोड़ा न जाये।

हम जो भी कर्म करते हैं उसके संस्कार हमारे चित्त पर पड़ते जाते हैं। इन संस्कारों से ही कर्माशय बनता है। यह कर्माशय ही हमें अगले जन्म के लिये किसी योनि में ले जायेगा। उस जन्म को पाकर व्यक्ति वैसे ही कर्म करेगा जैसे उसके संस्कार हैं। वृत्ति, कर्म, संस्कार का यह चक्र तब तक चलता ही रहेगा जब तक इन संस्कारों को योग के अभ्यास से दध्नीज न कर लिया जाये। उपनिषद् कहती है-

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(कठो. २/६)

अज्ञानी, प्रमादी और सांसारिक धन-दौलत के मोह में फंसे हुये को आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी उपदेश अच्छा नहीं लगता। जो इस लोक से भिन्न परलोक आदि को नहीं मानते और खाओ-पीओ, मौज उड़ाओ, धर्म-कर्म आदि सब व्यर्थ हैं, ऐसा मानने वाले बार-बार मृत्यु के मुख में जाते रहते हैं। क्योंकि परमेश्वर की भक्ति न करना ही मृत्यु आदि दुःखों का हेतु है और जो उसकी भक्ति करते हैं वे मृत्युञ्जयी हो जाते हैं-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वाति मृत्यु मेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(यजु. ३१/१८)

सूर्य के तुल्य प्रकाशस्वरूप, अज्ञान, अन्धकार से पृथक्, बड़े-बड़े गुणों से युक्त, सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर को जानकर ही मृत्यु के दुःख से छूटा जा सकता है। इससे भिन्न और कोई दूसरा उपाय मृत्यु के बन्धन से छूटने का नहीं है। उसकी शरण में जाना ही एकमात्र उपाय है। इसके कस्मै देवाय हविषा विधेम आत्मा और अन्तःकरण से भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञापालन में तत्पर रहना होगा। भक्ति-भगवान् का आश्रय लेकर मन की वृत्तियों को उसी में लगा देना भक्ति योग कहलाता है। जैसा कि कहा है-

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाभ्रमसोऽम्बुधौ॥

लक्षणं भक्ति योगस्य निर्गुणस्यह्यदाहृतम्।

जैसे गंगा के जल का प्रवाह निरन्तर समुद्र की ओर प्रवाहित हो रहा है, इसी प्रकार सबके हृदयकमल में विराजमान ब्रह्म के गुणों का स्मरण सतत करते रहना निर्गुण भक्तियोग कहा जाता है।

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति का लक्षण बतलाते हुये कहा है- सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा अमृता चः परमात्मा में प्रेम की पराकाष्ठा ही भक्ति है। इसी को योगदर्शन में ईश्वर प्रणिधान करते हैं। अपनी समस्त क्रियाओं को उस परमगुरु को समर्पित कर देना ही ईश्वर प्रणिधान है। भक्ति का उल्लेख करते हुये तुलसीदास जी कहते हैं-

कहहु भक्ति पथ कवन प्रयास। जोग न मख जप तप उपवास।

सरल स्वभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ सन्तोष सुहाई॥

वैर न विग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा।

भक्ति पथ नहीं हठ शठताई। दुष्ट कर्म सब दूर विहाई॥

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृण सम विषय स्वर्ग अपवर्गा॥

मम गुण ग्राम नामरत गत ममता मद मोह।

ताकर सुख सोई जाने परानन्द सन्दोह॥

भज सेवायाम् से भक्ति शब्द की सिद्धि होती है। महर्षि दयानन्द जी इसका अर्थ परमेश्वर की आज्ञा पालन करते हैं। सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में मुक्ति और बन्ध किन-किन बातों से होता है इसका उत्तर देते हुये लिखते हैं- 'परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधम, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपात रहित, न्याय, धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपात रहित, न्याय धर्मानुसार ही करे। इत्यादि साधनों से मुक्ति और इससे विपरीत ईश्वराज्ञा भंग करने आदि काम से बन्ध होता है।'

ईश्वर की आज्ञा पालन का अभिप्राय यही है कि जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव हैं वैसे ही अपने गुण, कर्म को बनाना और प्रकृति से विरक्त हो मोक्ष सुख के लिये ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना।

सहन स्वभाव दयानन्द

राजेन्द्र जिज्ञासु

भारतवर्ष सहनशीलता की भूमि है। आर्य जाति के इतिहास का सार यदि एक वाक्य में कहना हो तो उसे सहनशीलता का इतिहास कह सकते हैं। धर्म के क्षेत्र में इस सहनशीलता का दूसरा नाम विचार-स्वातन्त्र्य रहा है। राज्य के क्षेत्र में यही सहनशीलता अन्तर्जातीय निर्लोभिता के रूप में प्रकट होती थी। प्रत्येक देश के लिए स्वराज्य का आदर्श इस निर्लोभिता ने स्थापित किया था।

बदला व दण्ड:-

श्री रामचन्द्र जी ने रावण को परास्त किया तो लंका का आधिपत्य उसके भाई विभीषण को समर्पित कर दिया। रावण का अपराध क्षमा करने योग्य न था। अपनी प्यारी धर्मपत्नी का उठाया जाना क्षत्रिय पुत्र के लिए कुछ साधारण क्षोभ का कारण न था। जहां हम अलक्षेन्द्र ईरान की विजय के अनन्तर वहां की युवती महिलाओं को अपने सैनिकों की गृह-लक्ष्मियाँ बनाते देखते हैं, जहां हम अंग्रेजी सिपाहियों को अपनी विद्रोही मिश्र-देशीय प्रजा पर अत्याचार करते और वहां की देवियों का बलात्कार से सतीत्व नाश करते पाते हैं, जब कि उस कुत्सित दुराचार के लिए दोनों स्थानों के परास्त राजाओं अथवा प्रजाओं ने अपने दुराचरण से कोई उत्तेजना नहीं दी, वहीं आर्य विजेता राम उत्तेजना पाने पर भी शान्त है। यह है आर्य वीरों की उदारता, सहनशीलता, यहां दुराचार का बदला तत्सदृश दुराचार से नहीं दिया जाता। अपराधी को दण्ड मात्र दिया जाता है, जिसका उद्देश्य संसार का सुधार है। बदला असह्य हो सकता है दण्ड नहीं।

ब्राह्मण व राजा का भेद :-

यहाँ दण्ड देने का अधिकार भी राजा को है ब्राह्मण या संन्यासी को नहीं। आर्य-नीति में आचार और विचार के दो अलग क्षेत्र बना दिये हैं। आचार सम्बन्धी अपराध जब दण्ड दिये बिना उनका उपाय न रहे, राजा के शासन-क्षेत्र में जाते हैं। विचार का अपराध (यदि किसी की दृष्टि में वह अपराध हो) राज-नियम से दण्डनीय नहीं। विचार पर ब्राह्मण का शासन है। ब्राह्मण खण्डन करता है, उपदेश देता है, उपवासादि तपस्याओं द्वारा सत्याग्रह करता है, शारीरिक दण्ड नहीं देता।

उपयुक्त नीति भारत के इतिहास के पन्ने पन्ने पर उज्ज्वल अक्षरों में अंकित मिलती है। इस नीति का उपदेश ऋषि दयानन्द ने अपनी पुस्तकों में लिखा है, इस नीति का अवलम्बन श्री महाराज ने अपने क्रियात्मक जीवन में किया।

दयानन्द वाणी के पुरुष कहे जाते हैं। इनसे अधिक पुरुषता दयानन्द से पूर्ववर्ती आचार्यों के कथनों में मिलती है। जहां अन्य देशों में विचार-भेद राज्य द्वारा कठोर दण्ड का भागी रहा है- सूलियां, रूधिर की नदियां जीवदाह इत्यादि इस नीति के स्पष्ट उदाहरण हैं, वहीं भारतवर्ष में कुविचार के संशोधनार्थ केवल ब्राह्मण की जिह्वा को मधुकशा होने दिया गया है। दयानन्द ने उन मधुकशा का खुला प्रयोग किया है। इस मधुकशा का मिठास सैयद मुहम्मद को दयानन्द के चरणों में लाया है, सैयद मुहम्मद के लिए ऋषिभक्ति के अपराध में ऋषि-मुख से प्रेम भर्त्सना का कारण हुआ है, पादरी स्काट को ऋषि के दरबार से 'भक्त' सदृश्य अनुपम उपाधि दिलाने में हेतु बना है। यह मधुकशा जैसे हम ऊपर कह चुके हैं, भारतवर्ष का कुविचार

के प्रति दण्ड है। विस्तार-भय से हम श्री शंकर, श्री रामानुज आदि आचार्यों के कथनों से उद्धरण उपस्थित नहीं करते। इसी युग के सुधारक श्री राजा राममोहन राय के लेखों से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अन्य आचार्यों के लेख कई बार पाठकों की दृष्टि में आए हैं। ब्राह्म समाज के प्रवर्तक को उदारता का मूर्त आदर्श समझा गया है। इसके सम्प्रदाय में सब मतों का समावेश है। इनका किसी से विरोध क्यों हो? पौराणिक देवी-देवताओं पर इसकी टिप्पणी सुनिए-

राजा राममोहनराय और पुराण-

“मेरी समझ में नहीं आता कि शुद्ध पूर्ण परमात्मा के गुण स्वरूप किस प्रकार ऐसे कामी तथा आचारभ्रष्ट हो सकते हैं कि ब्रह्मा जो स्रष्टृत्व का प्रतिनिधि है पुराणों में एक स्थान पर अपनी पुत्री से भोग की चेष्टा करता वर्णन किया गया है। धरण-कर्ता विष्णु एक और स्थल पर वृन्दा के सतीत्व का धोखे से इसलिए नाश करता है कि उसके पति को मार दे। संहार-कर्ता शिव अतीव निर्लज्ज होकर मोहिनी से दण्डनीय अनुराग का भाव प्रकट करता है।”

इसी कारण राजा महोदय ने मूर्ति-पूजा को पक्षपात और भ्रान्ति तथा सदाचार के नियमों के भ्रंश का कारण ठहराया है, क्योंकि इससे व्यभिचार, आत्महत्या, स्त्रीघात और मनुष्य के बलिदान की प्रवृत्ति होती है। ईसाइयों के आक्रमणों का उत्तर देते हुए राजा महोदय लिखते हैं-

“मुझे आश्चर्य नहीं होता कि हमारे मन्तव्यों को ऐसा पुरुष नास्तिकों के से मन्तव्य कहता है जिस का परमात्मा विषयक विचार इतना स्थूल है कि वह परमेश्वर को जन्म लेता, खतना (लिंगछेद) कराता, बढ़ता, पितृशासन में रहता, खात, पीता, यहां तक कि मरता, और तीन दिन के लिए ही सही अभाव को प्राप्त होता मानता है।”

हमारा अभिप्राय इन उद्धरणों के उपस्थित करने से केवल यह है कि पाठक समझ सकें कि खण्डनात्मक प्रचार केवल दयानन्द ही ने नहीं किया। जहां अन्य देशीय सुधारकों ने अपने से भिन्न विचारों के विरुद्ध वाग्दण्ड के अतिरिक्त राज्य के शस्त्रों का प्रयोग भी किया है, वहां भारत में विचार पर कोई भौतिक अंकुश नहीं रखा गया।

बुराई से वैर स्वाभाविक:-

ऋषि दयानन्द संन्यासि-सुलभ सहनशीलता में किसी से पीछे नहीं। विष देने वालों को क्षमा से जीतना दयानन्द के जीवन की कई बार दोहराई गई घटना है। दयानन्द चोट करता है तो वाग्वाणों की और यहा उसका प्रहार प्रतिपक्षी के प्रतिकारार्थ नहीं। बुराई से, भ्रान्ति से दयानन्द का स्वाभाविक वैर है। वह इन पर आक्रमण करता है। पतितों पर दया और पतन पर क्रोध, दोषी की सहायता और दोष का निराकरण दयानन्द की मधुकशा की क्रमशः मधुरता और कशात्व है। इस पर कोई दयानन्द को असहनशील कहे तो उसे सहनशीलता के अर्थों के लिए कोई नया कोष तैयार करना चाहिए। हमें तो दोषी को क्षमा करना और दोष को क्षमा न करना सहनशीलता के दो पक्ष प्रतीत होते हैं। दयानन्द को क्रोध पाप पर है, भ्रान्ति पर है, और यही पापी और भ्रान्त पर दया है।

(कविर्मनीधी पं. चमूपति से साभार)

उपासना-विधि

पं. राजेन्द्र

मूर्तिपूजा के अभाव में हमारी उपासना-विधि क्या हो? यह प्रश्न है, प्रायः जिसे या तो जटिल समझा जाता है या जटिल बनाकर सर्वसाधारण के सन्मुख उपस्थित किया जाता है। जैसा कि हमने इस पुस्तक में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है- मूर्तिपूजा का प्रारम्भ महाभारत-काल के पश्चात् हुआ है और उसका हमारे प्राचीन वैदिक धर्म और संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस समय इस देश में मूर्तिपूजा का प्रचार नहीं था, उस समय जनसाधारण की एक सर्वाङ्गपूर्ण उपासनाविधि थी। विषय पर हमारे धर्मशास्त्र और इतिहास पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। तब क्यों इस प्रश्न को इतना जटिल समझा जाता है? बात स्पष्ट है, मूर्तिपूजा के समर्थक इसकी आड़ में उनको जीवित रखना चाहते हैं। क्यों रखना चाहते हैं, इस विषय पर आवश्यकता से अधिक यद्यपि योगविधि का कोई भी ऐसा अङ्ग नहीं है जो जनसाधारण की पहुँच से परे हो, तथापि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य उच्चकोटि का वैज्ञानिक, साहित्यकार एवं कलाकार नहीं बन सकता, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति योगी बनने की क्षमता नहीं रखता। यह सत्य है जो जितना परिश्रम करता है उसे उतना फल अवश्य प्राप्त होता है। परन्तु प्रत्येक जीव अपने पूर्व-संस्कार तथा उस वातावरण से जिसमें कि उसका पालन-पोषण-अथवा विकास हुआ है प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। 'जीवन' जन्मान्तर के संस्कारों का पुञ्ज है, इसे बिना समझे हम इस सांसारिक विषमता को भलीभाँति नहीं समझ सकते। अतः एक ऐसी उपासना-विधि की जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपनी भौतिक उन्नति के साथ आत्मविकास भी कर सके, आवश्यकता सदा और सर्वत्र अनुभव हुआ करती है। प्राचीन आर्यजाति इस विधि से अनभिज्ञ नहीं थी। हमारे धर्मशास्त्र प्रातः सायं नित्य नैमित्तिक रूप से प्रत्येक नर-नारी एवं बाल-वृद्ध को संध्या करने का बलपूर्वक उपदेश देते हैं। हमारा प्राचीन इतिहास उसका साक्ष्य है, जिसको हमने यथास्थान सिद्ध किया है। आज भी मूर्तिपूजा के प्रचार से यह विधि लोप नहीं हुई, यह दूसरी बात है कि समय के हेर-फेर से उसका कुछ रूप बदल गया हो।

यह सन्ध्योपासना-विधि योग के आधार पर निर्माण की गई है। प्रत्येक अपनी अभिरुचि के अनुसार यदि वह चाहे तो इसकी सहायता से उत्तरोत्तर अपने आत्म-विकास द्वारा समाधि-अवस्था तक पहुँच सकता है। आचमन, मार्जन, प्राणायाम, उपस्थान तथा गायत्री मंत्र का जाप आदि समस्त विधि सरल एवं सुबोध है और प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति थोड़े-से प्रयत्न और अभ्यास से उसे हृदयङ्गम कर सकता है। परन्तु फिर भी प्रश्न रह जाता है, अम जन-समुदाय के लिए, जिसकी गणना हमारे देश में दुर्भाग्य से आज ८० प्रतिशत के लगभग है, किस विधि का प्रचार किया जाए? योगदर्शन जैसा कि पूर्व लिख चुके हैं, प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग के लिए चाहे वह विद्वान् हो अथवा अविद्वान्, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, उपासना-विधि का समान रूप से वर्णन करता है। अशिक्षित समुदाय के लिए 'ओंकार जाप' की सरल विधि योगदर्शन में विद्यमान है- **तज्जपस्तदर्शभावनम्।** (योगदर्शन, समाधिपाद, सूक्त २८) ओ३म् का जाप और उसका अर्थचिन्तन एक अत्यन्त सरल विधि है, जिससे बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित सभी समान लाभ उठा सकते हैं। इसी भाँति गायत्री मंत्र के अर्थसहित जाप का अभ्यास भी थोड़े से परिश्रम से

किया जा सकता है। गायत्री मंत्र जाप का हमारे धर्मशास्त्र में ओंकार-जाप की भाँति बड़ा माहात्म्य, है। मंत्र-जाप भी चित्त की एकाग्रता का एक साधन है। अतः साधारण शिक्षित लोग उससे समचित लाभ सकते हैं।

प्रणव अथवा मंत्रजाप में जिस बात की विशेष आवश्यकता है और जिसे दुर्भाग्यवश पौराणिक काल में सर्वथा भुला दिया गया था, वह 'अर्थ विचार' है। एक हिन्दू समझता है कि बिना अर्थ-विचारों मंत्र जाप मात्र से ही उसके पाप नष्ट हो जाते हैं, किन्तु जब तक हम मन्त्रार्थ नहीं जानते तब तक हम उससे पूर्ण लाभ नहीं उठा सकते और न उससे हमारे विचार ही प्रभावित हो सकते हैं। जप का उद्देश्य विचारों की शुद्धता और मन की एकाग्रता है। यदि इससे इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती है तो उसका महत्व तोते की रट से अधिक नहीं। अतः जप के साथ अर्थ-विचार अनिवार्य है।

प्रत्येक व्यक्ति को पञ्च यज्ञों के नित्य अनुष्ठान का आर्यधर्म पद-पद पर उपदेश देता है। इन्हीं आह्विक कर्मों में एक ब्रह्मयज्ञ है। सन्धा, जप, स्वाध्याय और प्रवचन- ये सभी ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत हैं, अर्थात् सायं-प्रातः ईश्वरोपासना, मंत्रजाप, वेदादि सद्ग्रन्थों का नियमपूर्वक अध्ययन तथा जो कुछ अध्ययन किया है उसे दूसरों पर प्रकट करना, ये प्रत्येक के लिए नित्य नैमित्तिक कर्म हैं। परन्तु हिन्दू-समाज में जहाँ ईश्वरोपासना का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया है, वहाँ स्वाध्याय का या तो सर्वथा अभाव हो गया या रामायण, भागवतादि इतिहास-पुराणों ने ले लिया, और वेदशास्त्र, स्मृति आदि सद्ग्रन्थों का अध्ययन लुप्तप्राय हो गया। सर्वसाधारण का धर्मविषयक ज्ञान राम और कृष्ण की कथाओं से अधिक कुछ नहीं है। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि पौराणिक काल में वेदाध्ययन का अधिकार केवल बाह्मणों तक ही सीमित कर दिया गया। वैदिक काल में वेदाध्ययन पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था। ऐसी अवस्था में यदि वेदादि उच्चकोटि के धार्मिक साहित्य का सर्वसाधारण से सम्पर्क न रहा तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज हिन्दू जाति अपने प्राचीन धार्मिक साहित्य से बहुत कम परिचित है। उसका ज्ञान केवल कुछ पौराणिक एवं ऐतिहासिक गाथाओं तक ही सीमित है। अतः आर्य धर्म को पुनर्जीवित करने के लिए यह परमावश्यक है कि हम हिन्दुओं में अपने प्राचीन धार्मिक साहित्य के लिए पुनः अभिरुचि उत्पन्न करें।

पञ्च यज्ञों में दूसरा स्थान देवयज्ञ का है, जिसका दूसरा नाम अग्निहोत्र अथवा हवन है। इसका भी आर्य-जीवन में ब्रह्मयज्ञ की भाँति मुख्य स्थान है। सन्ध्या की भाँति इसका भी प्रातःसायं नित्यप्रति करने का विधान है, जैसा कि हम पूर्व वर्णन कर चुके हैं। महाभारत-युद्ध काल तक इन दोनों यज्ञों का हमारी दिनचर्या में विशेष महत्व रहा था। हमारे पतन के साथ इस यज्ञविधि का भी पतन हुआ। रामायण-काल में राम को इन्हीं यज्ञों के रक्षार्थ राक्षसों से घोर युद्ध करना पड़ा, परन्तु वही रुधिर-मांस जो उस समय यज्ञों को अपवित्र करता था, पशुबलि के रूप में यज्ञों में डाला जाने लगा। गौ-जैसे उपकारी और निर्दोष पशु की भी यज्ञों में बलि देना धर्म समझा जाने लगा। फलतः बौद्ध काल में यज्ञ जैसे पवित्र धार्मिक कृत्य का इसी दोष के कारण परित्याग कर दिया गया। अग्निहोत्र का एक नाम देवपूजा भी है। देव शब्द की भाँति देवपूजा को भी मूर्तिपूजा समझा जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज

(शेष पृष्ठ १२ देखें)

प्रभु कृपा से हमारी वासनायें नष्ट हों

वृद्धत्व का रहस्य, समस्या और समाधान

वृद्धों की सेवा अभ्युदय का मार्ग है। वृद्धसेवा से व्यक्ति कल्याण मार्ग का पथिक बनता है। शास्त्र कहते हैं-

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विदया यशोबलम्॥

वृद्धों की सेवा करनेवाली की आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि होती है। ये वृद्ध हैं कौन? वृद्ध, जिनकी संगति, जिनकी सेवा का इतना अधिक महत्व होता है। क्या आयु हमें वृद्ध बनाती है? नहीं। आयु तो हमें ज्ञान ही नहीं दे पाती, वह हमें वृद्ध कैसे बनाएगी। वृद्धों की सेवा से कल्याण-चतुष्टय की प्राप्ति होती है। वृद्ध शब्द बड़ा ही महत्वपूर्ण है, गंभीर है। इस शब्द में सागर-सी गहराई है। लोगों ने सादियों से इस शब्द के अर्थ के साथ बड़ा अन्याय किया है। यह शब्द दीनता का दयोतक नहीं है। इस शब्द में सम्मान है, प्रतिष्ठा है। इसमें जीवन का शुभ संकल्प है। वृद्ध का अर्थ क्या है? वृद्ध का अर्थ है, वृद्धिवाला। ऐसा व्यक्ति जिसने ज्ञान, धन, शक्ति अथवा अपने अनुभवों में वृद्धि कर ली हो, वह वृद्ध है। जहां वृद्धि नहीं है, वहां नहीं है। 'अष्टाध्यायी' संस्कृत व्याकरण का प्राचीन ग्रंथ है- उस ग्रंथ में वृद्ध संज्ञा की गई है-

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्।

जिसके आदि में वृद्धि हो वह, वृद्ध कहलाता है। (यद्यपि यह व्याकरणगत संज्ञा का विषय है) हम इस प्रसंग में यह समझ सकते हैं कि वृद्धि और वृद्ध एक दूसरे के पूरक हैं। प्राचीन आचार्यों ने इसीलिए आयुवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, धनवृद्ध, यशोवृद्ध, आश्रमवृद्ध आदि अनेक विभागों में 'वृद्ध' को विभक्त किया है। मनुस्मृति के उल्लेखानुसार धन, बंधु, कुटुंब, कुल, अवस्था, उत्तम कर्म और श्रेष्ठ-विद्या मान्य के स्थान हैं। किन्तु धन से उत्तम बंधु से उत्तम अवस्था और अवस्था से अधिक श्रेष्ठ कर्म और कर्म से अधिक पूज्य श्रेष्ठ विद्यावाला है। 'वृद्ध' पद का अर्थ बड़ा भी होता है। यह वृद्धि के अर्थ को धारण करता है। जब हम कहते हैं- आयुवृद्ध तो इसका अर्थ होता है आयु में बड़ा। इसी तरह ज्ञानवृद्ध, धनवृद्ध आदि पदों का अर्थ समझा जा सकता है। ज्ञानवृद्ध को सबसे अधिक महात्वाशाली माना गया है, क्योंकि

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

ज्ञान से अधिक पवित्र वस्तु यहाँ कोई है। आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द कहा करते थे-

'व्यक्ति चाहे सौ वर्षों का क्यों न हो उसे बालक समझो और जो ज्ञान-विज्ञान का दाता है उस बालक को भी वृद्ध मानना चाहिए। क्योंकि जब शास्त्र और आप विद्वान अज्ञानी को बालक और ज्ञानी को पिता कहते हैं।'

अधिक वर्षों के बीतने, सफेद बालों के होने, अधिक धन या बड़े कुटुम्ब के होने से कोई व्यक्ति वृद्ध नहीं होता है। किन्तु, विद्या, विज्ञान में जो अधिक है, वही वृद्ध है-

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।

यो वै युवाप्यधियानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥

आचार्य डॉ. अजय आर्य

ब्राह्मण से वृद्ध या बड़ा होता है। क्षत्रिय बल से वृद्ध होता है। वैश्य धन्य-ध्यान्य से महान् होता है। केवल शूद्र ही जन्म से अर्थात् आयु से वृद्ध (बड़ा) होता है। यही वार्धक्य (वृद्धत्व) इनकी पूज्यता का निधारण करता है। महर्षि सचेत करते हैं कि वृद्ध के नाम पर कभी नासितक, लम्पट, विश्वासघाती, चोर मिथ्यावादी, स्वार्थी, छली, कपटी, आदि दुष्ट मनुष्यों का संग न करें। आप, जो सत्यवादी, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय जन हैं, उनके संग का ही नाम 'श्रेष्ठाचार' है।

विप्राणां ज्ञानतो ज्येष्ठं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।

वैश्याना धान्यतः शूद्राणामेव जन्मतः॥

पञ्चदेव पूजा, पंचायतन पूजा लोक में अत्यंत प्रसिद्ध है। किन्तु, देवपूजा पाषाणपिंडों या प्रतीकों की पूजा नहीं है। पूजा हमारा धर्म अर्थात् कर्तव्य है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार-

मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।

मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।

माता-पिता, आचार्य और अतिथि देवता हैं। इनकी पूजा की जानी चाहिये। प्रथम देवता माता अर्थात् संतानों को को तन-मन-धन से सेवा करके माता को प्रसन्न करना चाहिए। दूसरा देवता पिता, उसकी भी मातृवत् सेवा करनी चाहिए। तीसरा देवता आचार्य जो ज्ञान-विज्ञान का देनेवाला है। उसकी आज्ञापालन के लिए सदा तत्पर रहें। वह सेवनीय है। चौथा अतिथि देवता, जो विद्वान् धार्मिक और सत्योपदेश से सबको सुखी करता है, उसकी सेवा करें। पांचवा देवता पति-

'पूज्यो देववत् पतिः।' पति देवतुल्य पूजनीय है।

महर्षि दयानन्द इस प्रसंग में कहते हैं। ये पांच मूर्तिमान् देव, जिनके संग से मनुष्य देह की उत्पत्ति, पालन, सत्यशिक्षा, विद्या और सत्य उपदेश की प्राप्ति होती है। ये ही परमेश्वर को प्राप्त होने की सीढ़ियाँ हैं। उनकी सेवा न करके, जो पाषाण आदि मूर्ति पूजते हैं, वे वेद विरोधी हैं।

वृद्ध देव सम पूज्य हैं, क्योंकि वृद्ध होने का अर्थ दिव्यता से भरा होना है। देव बनकर ही वृद्ध बना जा सकता है। असुर देव नहीं हैं। असुर वृद्ध नहीं हैं। वृद्ध वृद्धिवाला। ज्ञान, अनुभव और सत्कर्मा द्वारा विकसित, पल्लवित, पका हुआ व्यक्तित्व ही वृद्ध कहला सकता है। देव का अर्थ है, दिव्य गुणों से युक्त। दिव्यता = प्रकाश, ज्ञान, शक्ति, गति। स्वयं दिव्य होकर ही व्यक्ति दूसरों को दिव्य बना सकता है। जो दूसरों को सन्मार्ग दिखा सकता है वही 'वृद्ध' कहा जा सकता है। वृद्ध सचमुच पूज्य हैं। वृद्धों की सेवा-शुश्रूषा में ही हमारा कल्याण है।

वृद्ध और वृद्धाश्रम और समस्या

वैदिक संस्कृति में वृद्धों की पूजा का विधान है। इनकी छत्र-छाया में जीवन के उद्धार की बात कही गई है। आजकल वृद्धाश्रम का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा है। कुछ संत भी वृद्धाश्रम बनाने के पक्ष में हैं। यह भारतीय संस्कृति के सर्वथा विपरीत कदम है। हमारी संस्कृति में वानप्रस्थ आश्रम का विधान है, सन्यास आश्रम का विधान है। वृद्धाश्रम हमारी संस्कृति का अंग नहीं है। जिस संस्कृति में वृद्धों की पूजा का विधान है, वहाँ वृद्धाश्रम के बारे में

(शेष पृष्ठ १२ देखें)

पृष्ठ ११ से आगे....

सोचा भी कैसे जा सकता है? यह पश्चिम की संस्कृति की देन है। पश्चिम की संस्कृति 'यूस एंड थ्रो' के सिद्धांतों पर टिकी हुई है। जब तक कोई व्यक्ति या वस्तु उपयोगी है उसका उपयोग करो। खत्म होते ही उसे डस्टबिन (कूड़ेदान) में डाल दो। वे जो वर्ताव टूथपेस्ट के साथ करते हैं, वही वर्ताव अपने माता-पिता या रिश्तेदारों से भी करते हैं। यही कारण है कि वहाँ जीवन एकाकी हो जाता है। माता-पिता भी जब उपयोगी नहीं लगते, उन्हें घर से निकाल दिया जाता है। यह राम की धरती है। यहाँ दशरथ के वचनों की रक्षा के लिए राम बन जाता है। 'राम' के कहने से 'दशरथ' नहीं। पिछले कुछ दिनों से स्वार्थी संतानों के कारण माता-पिता या बुजुर्गों की समस्या बढ़ी है। माता-पिता अपनी इच्छा से परमार्थ साधने के लिए वानप्रस्थ या सन्यासी आश्रम जाएँ यह तो समझ में आता है किन्तु मजबूर, लाचार या बेचारे होकर वृद्धाश्रम की शरण में जाएँ, यह कदापि उचित नहीं है। ऐसी संतानों के जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य नष्ट हो जाते हैं। वार्धक्य मजबूर होता जा रहा है इसलिए वृद्धाश्रम आज जरूरत बन गए हैं। ऐसे में कुछ सावधानी वृद्धजनों द्वारा बरती जानी चाहिए। अपनी संपत्ति का कुछ हिस्सा अपने वार्धक्य के लिए अवश्य रखें। स्वयं को व्यस्त रखें। योगाभ्यास करें। हमेशा आशावादी बने रहें, बुढ़ापा आपसे दूर रहेगा। व्यक्ति को आहार-व्यवहार का विशेष ध्यान रखना चाहिए। खाली बैठकर समय व्यर्थ न करें। अपना सामाजिक दायरा बढ़ाएँ। संभव हो तो आस-पास के पुस्तकालय की सदस्यता ले लें। समीप की सामाजिक संस्था से जुड़कर लोकहित के लिए अपना समय दें। स्वाध्याय करें। जिसका जीवन उपयोगी है, वह कभी वृद्ध नहीं होता। अनुपयोगी युवा हमेशा घर में तिरस्कृत होता है। अपनी उपयोगिता हमेशा बनाये रखें। अपनी उम्र के लोगों के साथ दोस्ती करें। दोस्ती का दायरा बढ़ाएँ। इससे उम्र का एकाकीपन नहीं खलेगा। **स्वामी रामतीर्थ** ने एक बड़ा ही रोचक प्रसंग लिखा है- एक बार स्वामी जी योरोप में कहीं रेल यात्रा कर रहे थे। यात्रा के दौरान उन्होंने देखा कि एक लगभग अस्सी साल की उम्रवाला एक वृद्ध व्यक्ति चीनी भाषा सीख रहा है। चीनी भाषा दुनिया की कठिनतम भाषाओं में से एक है। इस भाषा को सिखने के लिए पर्याप्त समय चाहिए। स्वामी जी ने जब उस व्यक्ति से पूछा तो पता चला कि उसने अभी-अभी इस भाषा को सिखना आरम्भ किया है। स्वामी जी ने अपनी डायरी में लिखा है कि मैं जिसे वृद्ध समझा रहा था, वह तो युवा निकला। जिसमें सीखने की इच्छा है, वह कभी बूढ़ा नहीं होता। कर्मशील व्यक्ति कभी भी बूढ़ा नहीं होता। मन में हमेशा शिव संकल्प रखें क्योंकि, 'मन के जीते जीत है, मन के हारे हार है।' व्यक्ति के जीवन की असली कमजोरी मन में है और असली ताकत भी मन में ही है। इसलिए कभी अपने मन को कमजोर न होने दें। वेदों के अनुसार हमेशा सौ वर्षों तक 'अदीन' होकर जीने की इच्छा करें।

अदीनाः स्याम शरदः शतम् ।

शरीर भले ही बूढ़ा हो, मन को कभी बूढ़ा न होने दें। पुरुषार्थी बने क्योंकरे देवगण पुरुषार्थी मनुष्य को चाहते हैं, आलसियों को नहीं।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।

यन्ति प्रमादमत्तन्द्राः।

प्रभु! वृद्धों, को वृद्ध (वृद्धिवाला) और हमें उनके अशीष का अधिकारी बनाये, जिससे हम पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को प्राप्त कर सकें।

पृष्ठ १० से आगे....

आप किसी हिन्दू से देवपूजा का शब्दार्थ पूछें, वह तुरन्त मन्दिरों में स्थित मूर्तियों की पूजा कह देगा। इसी प्रकार प्राचीन काल में देव मन्दिर, देवालय, मण्डप शब्दों का प्रयोग यज्ञशालाओं के लिए प्रयुक्त हुआ करता था। किन्तु आज इन शब्दों को देखकर हम चौंक पड़ते हैं और समझने लगते हैं कि उस समय भी मूर्तिपूजा का प्रचार था। अब मन्दिर शब्द ही एक रूढ़ि बन गया है जिसका अर्थ मूर्तिपूजा का स्थान समझा जाता है। शिवालय की बनावट यज्ञशाला-जैसी है। मुम्बई प्रान्त में अब भी उसके लिए मण्डप शब्द प्रयुक्त होता है। शिवालय सर्वत्र चौकोण अथवा अष्टकोण बनाया जाता है। उसका शिखर, यज्ञाग्नि के शिखर के समतुल्य ही होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि किसी समय वाममार्ग-काल में इन्हीं यज्ञ-मण्डपों का रूपान्तर वर्तमान काल के शिवालयों में कर दिया गया हो। कुछ विद्वानों का ऐसा ही मत है। शिवालय के मध्य में शिवलिंग प्रायः एक गहरी गोलाकार वेदी में स्थापित होता है, जिसके सम्बन्ध में उनकी सम्मति है कि वह यज्ञवेदी ही है। अतः यह अनुमान कि प्राचीन वैदिक देवयज्ञ के भग्नावशेष पर ही मूर्तिपूजा का भवन निर्माण हुआ है, केवल एक कल्पना ही नहीं है अपितु उसमें बहुत-कुछ तथ्य भी है। सन्धोपासना जहाँ व्यक्ति रूप से किया जाने वाला एक धार्मिक कृत्य है, वहाँ अग्नि- होत्र समष्टि रूप से होने वाली नित्य नैमित्तिक क्रिया है। प्रत्येक गृहस्थ प्रातः- सायं सामूहिक रूप से सपरिवार अग्निहोत्र करें, यह आर्य मर्यादा है। इसी प्रकार पक्ष, मास, चतुर्मास तथा षट्मास की समाप्ति पर सामूहिक अथवा सामाजिक अग्निहोत्र-समारोहों का महाभारत-काल तक इस देश में प्रचार था। दीपावली, शारदीय नवशस्येष्टि तथा होली (वासन्तीय नवशस्येष्टि यम) ऐसे यज्ञों के रूपांतर हैं। इसी प्रकार आषाढ़ की पूर्णिमा, कार्तिकी पूर्णिमा एवं फाल्गुण पूर्णिमा चातुर्मास यज्ञों के अवशिष्ट मात्र हैं। अवशमेध, गोमेधादि यज्ञों का राष्ट्रीय स्वरूप है। उस समय इस देश में अग्निहोत्र का इतना प्रचार और महत्व था कि प्रत्येक शुभ अवसर पर अग्निहोत्र से ही कार्य प्रारम्भ होता था। हमारे संस्कारों की यज्ञप्रधानता आज भी हमें उस युग की याद दिलाती है। अग्निहोत्र द्वारा पञ्चदेव-काशाश, अग्नि, वायु, जल तथा पृथिवी की शुद्धि और संस्कार होता है। यही इनकी पूजा है और इसीलिए इसका नाम देव-यज्ञ अथवा देवपूजा है। जल-वायु की शुद्धि द्वारा अनायास ही अनेक संक्रामक रोगों से हमारी रक्षा होती है। यह निर्विवाद है कि अग्निहोत्र से हमारे मन और स्वास्थ्य पर एक अद्भुत प्रभाव पड़ता है जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति थोड़े-से व्यय और परिश्रम से स्वयं कर सकता है।

आर्य जाति अपने धर्म और संस्कृति से आज बहुत दूर हट चुकी है, परन्तु अब भी उनके अंकुर बीजरूप से उसमें विद्यमान हैं। आवश्यकता किञ्चित् नेतृत्व और पथप्रदर्शन की है। हजारों वर्षों से अनेक सम्प्रदायों द्वारा वह पथभ्रष्ट होती रही है। धर्म के नाम पर अनेक कुसंस्कार और दुर्व्यसन उसमें घर कर गए हैं। तथापि राख की ढेरी के नीचे दबी हुई चिंगारी की भाँति आज भी वैदिक भावनाएँ सर्वथा विलुप्त नहीं हुई। यदि हिन्दू समाज के कर्णधार स्वार्थ से ऊपर उठकर उस दैवी अग्नि को प्रज्वलित करना चाहें तो वह अब भी संसार को पुनः देदीप्यमान करने की क्षमता रखती है। इस जाति ने अनेक दुर्विन देखे हैं, फिर भी उसका अपना प्राचीन गौरव सर्वथा विलुप्त नहीं हुआ। वह आज कङ्काल होने पर भी अनेक बहुमूल्य रत्नों की स्वामिनी है, और अब भी संसार को कुछ दे सकती है। क्या इसके लिए हम कुछ आत्मोत्सर्ग करेंगे?

संध्या: क्या?, क्यों?, कैसे?,

डा. अशोक आर्य

आर्य समाज की स्थापना से बहुत पूर्व जब से यह जगत् रचा गया है, तब से ही इस जगत् में संध्या करने की परम्परा अनवरत रूप से चल रही है। बीच में एक युग ऐसा आया जब वेद धर्म से विमुख हो कर कार्यों का प्रचलन आरम्भ हुआ तो संध्या को भी लोग भुलाने लगे किन्तु स्वामी दयानंद सरस्वती जी का हम पर महान् उपकार है, जो हम पुनः वेद धर्म के अनुगामी बने तथा संध्या से न केवल परिचित ही हुए अपितु संध्या करने भी लगे।

संध्या क्या है?— सृष्टि क्रम में एक निर्धारित काल में जब हम अपने प्रभु को याद करते हैं, उसका गुणगान करते हैं, उसके समीप बैठ कर उसका कुछ स्मरण करते हैं, बस इस का नाम ही संध्या है।

संध्या कब करें?— ऊपर बताया गया है कि एक निश्चित समय पर प्रभु स्मरण करना ही संध्या है। यह निश्चित समय कौन सा है? यह निश्चित समय कालक्रम से सृष्टि बनाते समय ही प्रभु ने निश्चित कर दिया था। यह समय है संधि काल। संधिकाल से अभिप्रायः है जिस समय दिन व रात का मिलन होता है तथा जिस समय रात और दिन का मिलन होता है, उस समय को संधि काल कहते हैं। इस से स्पष्ट होता है कि प्रातः के समय जब आकाश में हल्के हल्के तारे दिखाई दे रहे हों, सूर्य निकलने की तैयारी में हो, इस समय को हम प्रातःकालीन संध्या काल कहते हैं। प्रातःकाल का यह समय संध्या का समय माना गया है। इस समय ही संध्या का करना उपयोगी है।

ठीक इस प्रकार ही सायं के समय जब दिन और रात्री का मिलन होने वाला होता है, सूर्य अस्ताचाल की ओर गमन कर रहा होता है किन्तु अभी तक आधा ही अस्त हुआ होता है। आकाश लालिमा से भर जाता है। इस समय को हम सायं कालीन संध्या समय के नाम से जानते हैं। सायं कालीन संध्या के लिए यह समय ही माना गया है। इस समय ही संध्या के आसन पर बैठ कर हमें संध्या करना चाहिए।

गायत्री के जप संध्या— वास्तव में गायत्री जप का ही दूसरा नाम संध्या है किन्तु इस गायत्री जप के लिए भी कुछ विधियाँ बनाई गई हैं, जिन्हें करने के पश्चात् ही गायत्री का यह जप आरम्भ किया जाता है। गायत्री जप के लिए भी कुछ लोग यह मानते हैं कि यह जप करते हुए कभी उठना, कभी बैठना तथा कभी एक पाँव पर खड़ा होना, इस प्रकार के आसन बदलते हुए गायत्री का जप करने को कहा गया है। हम यह सब ठीक नहीं मानते। हमारा मानना है कि गायत्री जप के लिए हम एक स्थिर आसन पर बैठ कर गायत्री मन्त्र का जाप करें। यह विधि ही ठीक है अन्य सब विधियाँ व्यवस्थित न हो कर ध्यान को भंग करने वाली ही हैं।

विभिन्न कथन— संध्या के प्रकार कुछ लोग कहते हैं कि ब्राह्मण की संध्या भिन्न होती है जबकि ठाकुर लोग कुछ अलग प्रकार की संध्या करते हैं। इन लोगों ने ऋग्वेदियों की संध्या अलग बना ली है तो सामवेदियों की संध्या कुछ भिन्न ही बना ली है। यह सब विचारशून्य लोग ही कर सकते हैं। परमपिता परमात्मा सब के लिए एक ही उपदेश करता है, सब के लिए उसका आशीर्वाद भी एक ही प्रकार का है तो फिर संध्या अलग अलग कैसे हो सकती है? अतः संध्या के सब मन्त्र सब समुदायों, सब वर्गों तथा सब जातियों के लिए एक ही हैं।

जाप के पूर्व शुद्धि— ऊपर बताया गया है कि गायत्री जाप का नाम ही संध्या है किन्तु इस जाप से पूर्व शुद्धि का भी विधान दिया गया है। प्रभु उपदेश करते हैं कि हे जीव! यदि तू मुझे मिलने के लिए संध्या के आसन पर आ रहा है तो यह ध्यान रख कि तू शुद्ध पवित्र हो कर इस आसन पर बैठ। इस शुद्धि के लिए शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, चित और अहंकार, यह छः प्रकार की शुद्धि आवश्यक है। इस निमित्त आचमन से शरीर की शुद्धि, अंग स्पर्श से सब अंगों की शुद्धि, मार्जन से इन्द्रियों की शुद्धि, प्राणायाम से मन की शुद्धि, अघमर्षण से बुद्धि मनसा परिक्रमा से चित की शुद्धि तथा उपस्थान से अहंकार की शुद्धि की जानी चाहिए।

शुद्धि कैसे?— अब प्रश्न उठता है की यह शुद्धि कैसे की जावे? इस के लिए बताया गया है कि हम प्रतिदिन दो काल स्नान करके अपने शरीर को शुद्ध करें। अपने अन्दर को शुद्ध करने के लिए राग, द्वेष असत्य आदि दुरितों को त्याग दें। कुशा व हाथ से मार्जन करें। ओ३म् का उच्चारण करते हुए तीन बार लंबा श्वास लें तथा छोड़ें, यह प्राणायाम है। सब से अंत में गायत्री का गायन करते हुए शिखा को बांधें।

इस प्रकार यह पांच क्रियाएं करके मन व आत्मा को शांत स्थिति में लाया जावे। यह शांत स्थिति बनाने के पश्चात् संध्या के लिए छः अनुष्ठान किया जावें, जो इस प्रकार हैं:

संध्या के लिए छः अनुष्ठान

१. शरीर को असत्य से दूर— शरीर को असत्य से दूर करने के लिए संध्या में बताये गए प्रथम मन्त्र ओ३म् शन्नो देवी रभिष्टये आपो भवन्तु पीतये शंयो राभिश्चन्तु नः का उच्चारण करने के पश्चात् तीन आचमन करें।

२. मार्जन पूर्वक इन्द्रियों की शुद्धि— ओ३म् वाक् ओ३म् प्राणः प्राणः आदि मन्त्र से अंगों की शुद्धि करें। ओ३म् भूः पुनातु शिरसि आदि मन्त्र से प्रभु के नामों को अर्थ करते हुए मार्जन पूर्वक इन्द्रियों की शुद्धि करें।

३. प्राणायाम से मन शांत— कम से कम तीन तथा अधिक से अधिक ग्यारह प्राणायाम कर अपने मन को शांत करें।

४. बुद्धि की शुद्धि तथा बोले मन्त्रों के अर्थ चिंतन— ओ३म् ऋतं च आदि इन तीन मन्त्रों से अपनी बुद्धि को समझाते हुए शुद्ध करें तथा पुनः शन्नो देवी मन्त्र को बोलते हुए अब तक जो मन्त्र हमने बोले हैं, उन सब के अर्थ को देखें तथा अर्थों पर चिंतन करें।

५. चित को सुव्यवस्थित करें— ओ३म् प्राची दिग अग्नि आदि इन छ मन्त्रों का गायन करते हुए अपने चित को सुव्यवस्थित करें।

६. अहंकार तत्व— ओ३म् उद्वयं से ले कर ताच्छकशुर्वेवहित तक के मन्त्रों का गायन करते हुए अहंकार तत्व से अपनी स्थिति का सम्पादन करें।

प्रधान जप— यह छः अनुष्ठान करने के पश्चात् हम इस स्थिति में आ जाते हैं की अब हम प्रधान जप अर्थात् गायत्री गायत्री का जाप कर सकें। अतः अब हम गायत्री का जप करते हैं।

समर्पण— गायत्री का जप करते हुए हम स्वयं को उस पिता के पास पूरी तरह से समर्पित करने के लिए बोलते हैं, हे इश्वर दयानिधे भवत्क्रिप्यानेण भवत् कृपया अनेन् जपोपास्नादि कर्मणा धर्मार्थ का मोक्षानाम् सद्यसिद्धिर्भवेण। इस प्रकार हम समग्रतया उस प्रभु को समर्पित हो जाते हैं।

नमस्कार— अंत में हम उस परमात्मा को नमस्ते करते हुए अपने आज के कर्तव्य को पूर्ण करते हुए संध्या का यह अनुष्ठान पूर्ण करते हैं।

जाप की विधि— गायत्री का जाप एक आसन पर बैठ कर ऊँचे उच्चार से किया जावे।

ध्यान के समय मौन जाप की प्रथा है किन्तु अकेले में जाप करते समय ऊँचे स्वर से किया जाता है। कुछ लोग मौन जाप का कहते हैं तो कुछ उच्च स्वर में जबकि कुछ का मानना है कि यह जाप इतनी मद्धम स्वर में किया जावे कि मुख से निकला शब्द केवल अपने कान तक ही जावे। इस सम्बन्ध में स्वामी जी ने संस्कार विधि में मौन जाप का विधान ही दिया है।

हम संध्या करते समय यह सब ध्यान में रखते हुए ऊपर बताये अनुसार ही संध्या करें तो उपयोगी होगा।

मोह-ममता के रिश्ते हैं सब, कोई नहीं यहाँ अपना रे!

महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

एक था नौजवान! देखने में सुन्दर, स्वस्थ, वैसे बहुत अच्छा, परन्तु कुसंगत में पड़कर बिगड़ गया। एक दिन ऋतु बहुत अच्छी थी। भीनी-भीनी वायु चल रही थी। वह अपने मकान की छत पर खड़ा होकर पतंग उड़ा रहा था कि डोर टूट गई। पतंग शहर से परे जंगल के अन्दर एक साधु की कुटिया के पास जा गिरी। महात्मा ने पतंग उठाई, अपनी कुटिया में ले-जाकर रख दी।

तभी पतंग को ढूँढता हुआ वह युवक भी वहाँ आ पहुँचा। महात्मा के पास जाकर बोला- “आपने यहाँ कोई पतंग गिरती हुई तो नहीं देखी?”

महात्मा ने कहा- “हाँ बेटा, देखी तो है।”

युवक ने पूछा- “कहाँ है?”

महात्मा बोले- “अन्दर मेरी कुटिया में रखी है।”

युवक ने कहा- “यह पतंग मेरी है।”

महात्मा बोले- “तेरी है बच्चा तो तू ले जा। मैं तेरी पतंग का क्या करूँगा!”

पतंग देकर महात्मा ने पूछा- “बेटा, क्या तू प्रतिदिन इस प्रकार पतंग उड़ाता है?”

युवक ने कहा- “नहीं जी! कभी-कभी उड़ाता हूँ। जब मित्र न आयें और जब ताश व जुए का दौर न चले तो अकेला मैं क्या करूँ?”

महात्मा बोले- “तो तू ताश और जुआ भी खेलता है?”

युवक ने कहा- “जब कभी पीने-पिलाने का अवसर न मिले, मित्र लोग आये हों, तब फिर क्या करें?”

महात्मा बोले- “अरे! तू शराब भी पीता है?”

युवक ने कहा- “जी हाँ! यदि कभी वेश्याओं के यहाँ जाने, नाच देखने और गाना सुनने का अवसर न मिले तो...”

महात्मा चिल्लाकर बोले- “अरे, तो तू यह कर्म भी करता है? किस ओर जा रहा है तू? किसने तुझे सर्वनाश के मार्ग पर चला दिया? यह तो मृत्यु का मार्ग है बच्चे! जीवन का मार्ग नहीं है। देख, धोखे में न रह! यौवन केवल एक बार आता है जीवन में, चला दिया? यह तो मृत्यु का मार्ग है बच्चे! जीवन का मार्ग नहीं है। देख, धोखे में न रह! यौवन केवल एक बार आता है जीवन में, चला जाय तो फिर नहीं आता। अरे, क्यों नष्ट कर रहा है यौवन को? आज तेरे शरीर में शक्ति है, आँखों में ज्योति, मुख पर सौंदर्य, हाथों में बल है। आज यदि सुमार्ग पर न आया तो फिर प्रयत्न करने पर भी नहीं आ पायेगा। आज तू पहाड़ों का सीना चीर सकता है। तूफानों को ललकार सकता है। सागरों की छाती पर सवार हो सकता है। आज तुझे सूर्य और चन्द्रमा खिलौने प्रतीत होते हैं, परन्तु समय आयेगा, जब तू हाथ हिलाना चाहेगा और वह हिलेगा नहीं।

पाँव से चलना चाहेगा और वे चलेंगे नहीं। आज तेरी आँखें आकाश में देखती हैं, परन्तु समय आयेगा, जब पास रखी लाठी भी तुझे दिखाई न देगी। अभी समय है सँभल सके तो सँभल, नहीं तो फिर यह समय कभी आयेगा नहीं।

महात्मा ने इस प्रकार कहा तो नौजवान चौंका। महात्मा की वाणी में प्रभाव था। वे सच्ची बात कह रहे थे। इससे युवक के मन पर चोट लगी और वह बेचैन हो उठा; हाथ जोड़कर बोला- “महाराज! ऐसी बात कभी पहले नहीं सुनी। आप आज्ञा दें तो कभी-कभी आपके पास आ जाया करूँ।”

महात्मा ने कहा- “तुम जब भी चाहो, आ सकते हो। मेरे यहाँ कोई रोक-टोक नहीं।”

वह युवक प्रतिदिन महात्मा जी के पास आने लगा। महात्मा जी ने उसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान आदि की बातें सुनाई। वे हृदय से युवक को सुधारना चाहते थे। युवक के हृदय में लगन थी। उसने शीघ्रता से इन बातों को सीखा। महात्मा जी ने इस युवक को दस भट्टियों में डालकर कुन्दन बना दिया। उसकी पुरानी आदतों का चिह्न भी मिट गया। अब वह यम-नियमों का पालन करता, कई-कई घण्टे आसन लगाता। कई प्रकार के प्राणायाम करता, ध्यान भी लगाता। महात्मा ने इसे सब-कुछ बता दिया। ‘प्राणायाम उत्थान’ की विधि भी बता दी कि किस प्रकार पाँव के अँगूठे से लेकर शरीर के प्रत्येक अंग से प्राण को ब्रह्मरन्ध में पहुँचा दिया जाता है। यह सब-कुछ बताया, परन्तु समाधि की विधि नहीं बताई।

एक दिन युवक ने कहा- “महाराज! आपने सब-कुछ बताया, परन्तु समाधि लगाने की विधि तो बताई ही नहीं?”

महात्मा हँसकर बोले- “बतायेंगे, अभी जल्दी क्या है?”

कुछ समय व्यतीत हुआ तो युवक ने कहा- “महात्मा जी, अब?”

महात्मा जी ने फिर टाल दिया।

अन्त में एक दिन युवक ने दुःखी होकर कहा- “महाराज! आखिर कब तक परीक्षा देनी होगी? मुझमें कौन-सी कमी है, जिसके कारण आप मुझपर कृपा नहीं कर रहे?”

महात्मा उसे पास बिठाकर बोले- “कृपा करने की बात नहीं है बेटा! जिस समाधि-अवस्था में तू जाना चाहता है, वहाँ पहुँचने से पूर्व घर-बार, संसार और परिवार का मोह छोड़ देना पड़ता है। इतने दिनों से मैं प्रतीक्षा कर रहा था, सोचता था कि स्वयं ही समझकर इस मोह को छोड़ देगा। परन्तु देखता हूँ कि तू इस मोह को छोड़ नहीं पाता। इसलिए समाधि लगाने की विधि तुझे बता नहीं सका।”

युवक ने कहा- “परन्तु गुरुदेव! इस मोह को कैसे छोड़ दूँ?”

यह तो सत्य है कि मेरी माँ है और पिता है, मेरी पत्नी है..."

महात्मा बोले- "नहीं बेटा! यह सत्य नहीं, वहम है। जिन्हें आज तू माता, पिता और पत्नी कहता है, ये सदा से तेरे माता, पिता और पत्नी थे नहीं, सदा रहेंगे नहीं। सच्ची माता, पिता और मित्र तो वह परमात्मा है, जिसके लिए शास्त्र कहता है:-

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

तू ही माँ है, तू ही पिता है, तू ही मेरा साथी है, तू ही मेरा धन है। तू ही महल और मकान है, तू ही मेरा सब-कुछ है, मेरे देवताओं के देवता!"

युवक ने कहा- "यह सत्य है गुरुदेव, कि ईश्वर हमारा सब-कुछ है, परन्तु माता-पिता और दूसरे लोग भी सत्य हैं। उनसे मैं इन्कार कैसे कर सकता हूँ? भूल कैसे सकता हूँ? मेरे पिता मेरे लिए प्राण देते हैं। मुझे थोड़ा-सा कष्ट हो जाय तो बेचैन हो उठते हैं। मेरी माँ तो एक दिन भी मुझे देखे नहीं तो उसके लिए संसार अन्धकारमय हो जाता है। और मेरी पत्नी तो हर समय मेरे नाम का जाप करती रहती है। आप कहते हैं, इनके मोह को छोड़ दे। कैसे छोड़ दूँ?"

महात्मा बोले- "तू वहम में फँस गया है बच्चे! कोई तेरे लिए प्राण नहीं देता, कोई तेरे लिए बेचैन नहीं होता, कोई भी तेरे नाम का जप नहीं करता। इस संसार का प्रेम केवल स्वार्थ का प्रेम है। सब लोग अपने लिए प्यार करते हैं। जब तक शरीर में शक्ति और जेब में पैसा है, तभी तक ये सब लोग तुझे चाहते हैं। जब शरीर में शक्ति और जेब में पैसा न रहेगा, तब कोई तुझे चाहेगा नहीं।"

युवक ने कहा- "यह बात तो ठीक प्रतीत नहीं होती।"

महात्मा बोले- "अच्छा, मेरी एक बात मान। आज तू घर जायेगा न! तू अपनी माँ से कहना- तबीयत बहुत खराब है, पता नहीं क्या हुआ है। फिर अपने सोनेवाले कमरे में जाकर अपने पलंग पर लेट जाना। प्राण रोकने की विधि तू जानता है, प्राण रोक लेना। तुझे सुनाई सब-कुछ देगा, परन्तु तू बोलना मत! लाश की भाँति पड़े रहना। और देख, प्राण रोकने से पूर्व अपनी माँ से यह भी कहना कि 'यदि मैं मर जाऊँ तो श्मशान में ले-जाने से पूर्व मेरे गुरुजी को बुला लेना। वे मुझे देख लें उसके पश्चात् श्मशान में ले-जाना।' जा ऐसा कर, फिर तुझे मेरी बात समझ में आयेगी।"

युवक घर पहुँचा। माँ को देखते ही बोला- "माँ! पता नहीं आज तुझे क्या हुआ जाता है। दिल छुटा जाता है। साँस रुका जाता है। खड़ा रहने की शक्ति नहीं ऐसा लगता है, जैसे प्राण निकल जायेंगे।"

माँ ने घबराकर कहा- "ऐसी बात न कहे बेटा! तेरे प्राण क्यों निकलें मेरे निकल जायँ। तू थक गया है। थोड़ी देर विश्राम कर ले तबीयत ठीक हो जायेगी।

युवक ने कहा- "हाँ, मैं विश्राम करूँगा। अपने कमरे में लेटता हूँ।

परन्तु यदि मुझे कुछ हो जाय, यदि मैं मर जाऊँ तो श्मशान में ले-जाने से पूर्व गुरु जी को बुला लेना। ऐसा करना भूलता नहीं!"

माँ बोली- "कैसी बातें करता है तू! तुझे कुछ नहीं होगा। जा, थोड़ा विश्राम कर ले। मैं अभी तेरे पिता जी को बुलाती हूँ।"

युवक अपने कमरे में गया। पलंग पर लेटा। कुछ देर पश्चात् उसने प्राणायाम के द्वारा अपने प्राण चढ़ा लिये। साँस रुक गई। थोड़ी ही देर में शरीर ठण्डा होने लगा। कोई आध घंटे पश्चात् उसकी पत्नी अन्दर आ गई। उसने देखा, हिलाया, बुलाया, नब्ज देखी और चीखती हुई बार आ गई; बोली- "माताजी! ओ माता जी! देखो वह अन्दर क्या हो गया है?" पत्नी ने सिसकते हुए फिर कहा- "वे.... वे बोलते नहीं, हिलते नहीं, शरीर ठण्डा है!"

माँ दौड़ती हुई अन्दर गई; देखा-पुत्र का शरीर बर्फ की भाँति ठण्डा है। उसने माथा पीट लिया। घर में शोक छा गया। दुकान से पिताजी दौड़े-दौड़े आये। डॉक्टर, वैद्य, हकीम भी आये। सबने देखा। सबने कहा- "यह तो समाप्त हो चुका। इसमें कुछ शेष नहीं।"

घर में रोटना-पीटना आरम्भ हो गया। रोनेवालों की चीखों से घर की दीवारें गूँज उठी। मुहल्लेवाले भी आये। सब रो-रोकर शोक प्रकट करने लगे। सब कहने लगे-देखो कितना अच्छा हो गया था यह युवक! जब से साधु के पास गया, तब से जैसे इसका जीवन ही बदल गया था। सबकी सहायता करता था। और अब...

परन्तु कब तक रोते वे लोग! मुहल्लेवालों ने कहा- "रोना तो सदा का है, परन्तु अब तो यह केवल मिट्टी है। उठाओ इसे, ले चलो श्मशान, अन्यथा बदबू उत्पन्न हो जायेगी।"

तब होने लगी तैयारी। सारा सामान आ गया। शरीर को नहला दिया गया। कफ़न भी ओढ़ा दिया गया। अर्थी पर रखने लगे तो माँ को बेटे की बात याद आई। रोती हुई बोली- "अरे ठहरो! उसने कहा था कि मुझे श्मशान ले-जाने से पूर्व मेरे गुरुजी को बुला लेना।"

कुछ लोग जंगल की ओर दौड़े। साधु के पास पहुँचे; बोले- "आपके पास वह युवक आता था न! चलिए, उसका देहान्त हो गया है। घर में कुहराम मचा हुआ है। उसकी अर्थी को श्मशान ले-जाने की तैयारी हो चुकी है। चलकर देखो!"

महात्मा ने कहा- "अच्छा चलो, मैं देखता हूँ।" और कुटिया में जाकर एक पुड़िया उठा लाये, इस पुड़िया में उन्होंने मिश्री पीसकर बाँध रखी थी। मिश्री की पुड़िया लेकर वे युवक के घर पहुँचे तो देखा कि चीखों से सारा घर ही नहीं, मुहल्ला भी गूँज रहा है।

महात्मा बोले- "देखो, थोड़ी देर के लिए यह रोना बन्द करो। मैं इसका गुरु हूँ। मुझे देखने दो, इसे क्या हुआ है?"

सब लोग चुप हुए तो महात्मा ने कफ़न उठाकर उस युवक को देखा। उसे हाथ से टटोला; बोले- "मर तो यह गया है, परन्तु अभी एक आशा शेष है। यदि कोई व्यक्ति साहस करे तो जीवित हो सकता है।"

कार्तिक - २०७३ (२०१७)

Post Date : 25-10-2017

MCN/136/2016-2018
MAHRIL 06007/31/12/18-TC

पोष्ट आफिस : सांताक्रुज (प.)

आर्य समाज सान्ताक्रुज मुम्बई का मुखपत्र

संपादक : संगीत आर्य

मुद्रक एवं प्रकाशक : चन्द्रपाल गुप्त द्वारा कृष्ण प्रिंटिंग प्रेस,
२६, मंगलदास रोड, मुंबई-२. से मुद्रित कराकर आर्य समाज भवन,
वी. पी. रोड, (लिंगिंग रोड), सान्ताक्रुज (प.) मुंबई-४०० ०५४.
से प्रकाशित किया। दूरभाष : २६६० २८००/२६६०२०७५

प्रति, _____

भवः

म

सब लोगों ने एक-साथ कहा- “जीवित हो सकता है! कैसे?”

महात्मा बोले- “देखो, यमराज के दूत यहाँ विद्यमान हैं। वे अपनी बलि लेंगे अवश्य। यदि कोई दूसरा व्यक्ति इसके स्थान पर अपनी जान देने को तैयार हो तो मैं यम के दूतों से कह सकता हूँ कि वे उसको ले-जायँ, इस युवक को नहीं।” और अपने झोले से मिश्री की पुड़िया निकालकर बोले- “मेरे पास यह विष की पुड़िया है। कोई भी व्यक्ति इसे दूध में घोलकर पी ले तो वह मर जायेगा और यह व्यक्ति जीवित हो जायेगा।

अब सब लोग एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। महात्मा ने कहा- “माँ! ओ इस युवक की माँ! तू जो अभी कह रही थी कि तेरे स्थान पर मेरे प्राण निकल जायँ; मैं मर जाऊँ पुत्र, तू ज़िन्दा रहा। यह पुड़िया तू ही दूध में डालकर पी ले।”

माँ ने कहा- “मैं मर तो जाऊँ। मेरा एक ही पुत्र है, इसके लिए नहीं मरूँगी तो किसके लिए मरूँगी? परन्तु पहले मेरी जन्म-पत्नी माँगाकर देख लो। यदि मेरे भाग्य में और सन्तान उत्पन्न होना लिखा है तो फिर मैं काहे को मरूँ।”

महात्मा ने युवक के पिता की ओर देखकर कहा- “लाला जी यह माँ तो नहीं पीती, आप ही इस विष को पी लीजिये। आप जो इतना रोते-पीटते हैं, अपने बेटे से भी आपको प्यार है, इसके वियोग में दुःखी हुए जाते हैं, तो लो, पीयो यह विष! तुम्हारा पुत्र अभी जीवित हो जायेगा।”

लाला जी बोले- “पी तो लूँ परन्तु मेरा व्यापार बहुत फैल गया है। इसे सँभालनेवाला कोई नहीं है, इसीलिये विष नहीं पी सकता।”

महात्मा जी युवक की पत्नी को सम्बोधित करके बोले- “अच्छा देवी! ये दोनों नहीं पीते, तू ही यही यह विष पी ले।”

पत्नी ने हाथ जोड़कर कहा- “मैं पीने को तैयार हूँ महाराज! परन्तु मेरी कोख में तो मरनेवाले का चिह्न है। मेरे साथ यदि आप उसे भी मारना चाहते हैं तो लाइये, मैं विषपान कर लेती हूँ, परन्तु इसका निर्णय आप ही कीजिये कि मुझे ऐसा करना चाहिये या नहीं।

महात्मा बोले- “नहीं, तुझे ऐसा नहीं करना चाहिये। परन्तु जब कोई भी इस विष को पीने के लिए तैयार नहीं, तो फिर यह जियेगा कैसे? अच्छा, दूध तो लाओ। मैं सोचता हूँ कौन पीयेगा।”

जब वे इस प्रकार बातें कर रहे थे तो मुहल्लेवाले एक-एक करके

खिसक रहे थे। प्रत्येक व्यक्ति डर रहा था कि मेरी बारी न आ जाय।

दूध आया। महात्मा ने मिश्री की पुड़िया उसमें घोल दी। लोगों की ओर देखा कितने ही लोग उठकर चले गये। भीड़ बहुत छँट गई। महात्मा बोले- “जब कोई नहीं पीता तो शायद मुझे ही यह पीना पड़ेगा।”

एक-साथ कितने ही लोगों ने कहा- “हाँ-हाँ, महाराज! आप पी लो, आप ही पी लो।”

युवक की माँ ने कहा- “आप तो महात्मा हैं, साधु हैं। आप ही पियो!”

युवक के पिता ने कहा- “साधु-सन्तों का तो जीवन ही दूसरों के लिए होता है महात्मा जी! आप ही कृपा करो।”

अर्थात्, आप ही मरो, हमें मरने का अवकाश नहीं। साधु के कहने पर किसी ने विष नहीं पिया तो महात्मा ने स्वयं ही विष पी लिया। उसमें विष तो था ही नहीं। थी केवल मिश्री। महात्मा को कुछ हुआ नहीं। युवक अपने प्राणों को ब्रह्माण्ड में पहुँचाकर लाश की भाँति पड़ा था, सो प्राणों को नीचे उतारकर उठ बैठा।

गुरु ने कहा- “क्यों युवक! देखा तूने, ये सब लोग तुझे कितना प्यार करते हैं? तेरे लिए कितने प्राण देते हैं?”

युवक ने कहा- “हाँ गुरुदेव! देख लिया सब-कुछ। मेरी आँखें बन्द थीं, परन्तु मेरे कान प्रत्येक बात सुन रहे थे। पहले तरस आया इन लोगों पर कि मैं इन्हें धोखा देता हूँ। इनका रोना सुनकर, इनकी चीखें सुनकर जी में आया कि उठ बैटूँ और कहूँ कि मैं मरा नहीं, परन्तु मन को दृढ़ करके मैं लेटा रहा। जब माँ ने कहा, पिता ने कहा, पत्नी ने कहा कि वे सब मेरे लिए जान देना चाहते हैं, स्वयं मरने को तैयार है कि मैं जी उठूँ, तो मैं समझा कि आप जो कहते थे, वह गलत था। परन्तु अब समझा हूँ गुरुदेव, कि इनमें से कोई भी मुझे प्यार नहीं करता। ये अपने लिए रो रहे थे; अपने लिए चीख रहे थे। मेरे लिए कोई भी मरने को तैयार नहीं हुआ। ये सब स्वार्थ के साथी हैं। मेरा साथी केवल वह है, जिसे मैं इसके लिए भुला बैठा था।”

यह है इस मोह की वास्तविकता, जिसके वश में होकर यह संसार उलटे मार्ग पर बढ़ा जाता है। प्रत्येक स्थान पर स्वार्थ, प्रत्येक स्वार्थ पर भौतिकता, मायावाद, सर्वत्र इस शरीर की चिन्ता अथवा उन लोगों की चिन्ता, जिनका सम्बन्ध इस शरीर से है।